श्री भागवत दर्शन भागवती कथा, खंड ६१

श्री भागवत दर्शन

भागवती कथा

खण्ड ६१

[उपनिषद् अर्थ]

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता ।
प्रणीतं प्रभुदत्तेन श्रीभागवतदर्शनम् ॥

लेखक
श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रकाशक
संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
(भूसी) प्रयाग

संशोधित मूल्य २-०० रुपया

प्रथम संस्करण } जनवरी १९७२ { मूल्य : १.६५
१००० } माघ सं०-२०२८

विषय-सूची

संस्मरण

(सेवादि सद्गुणों द्वारा सेवाप्रसन्नता)

[१०]

प्रेम्णा समीपवासेन स्तुत्यानत्या च सेवया ।
कौशल्येन कलाभिश्च कथाभिर्ज्ञानतोऽपि च ॥
आदरेणार्जवेनैव शौर्य दानेन विद्यया ।
प्रत्युत्थानाभिगमनैरानन्दास्मित भाषणैः ॥
उपकारैः स्वाशयेन वशीकुर्यात् जगत् सदा ।

(शुक्र नीति-सार)

छप्पय

जग में शत्रु न मित्र करै व्यवहार मित्र अरि ।
प्रेम, समीप निवास, कला, सेवा, इस्तुत करि ॥
नमस्कार अरु गान, दान, विद्यादि सरलता ।
कथा, ज्ञान उपदेश, वाद्य अरु शूरबीरता ॥
प्रत्युत्थान हु अनुगमन, मन्दस्मित, आनन्दयुत ।
मधुर बात, उपकार करि, करै नेह तें वश जगत ॥

● प्रेम, समीप में वास, स्तुति, नमस्कार, सेवा, चतुरता, कला-गाना, बजानादि-कथा कहना, ज्ञानोपदेश, आदर, सरलता, शूरता, दान, विद्या, प्रत्युत्थान, अभिगमन, आनन्द, मन्द-मन्द मुस्कराकर बोलना परोपकार, सुन्दर आशय प्रदर्शित करना, इन सब कार्यों से जगत् को वश में करना चाहिये । अर्थात् इन्हीं कार्यों से मनुष्य लोक प्रिय बनता है ।

संसार में मनुष्य अपने आचरणों द्वारा ही निन्दित और वन्दित बन जाता है। बुरे आचरण करने से जगत् के लोग निन्दा करने लगते हैं। अच्छे आचरणों से सब लोग प्रशंसा करने लगते हैं। अपना आचरण ही शत्रु तथा मित्र बना लेता है। संसार के लोग तो स्वार्थपर होते हैं। सभी सुख चाहते हैं, सभी आनन्द के इच्छुक हैं, सम्मान के भूखे हैं। बुद्धिमान पुरुष को सदाचार पूर्वक सभी का आदर करना चाहिये और ऐसे कार्य करने चाहिये जिससे सबको सुख हो, सबको प्रसन्नता हो, सबका चित्त प्रसन्न रहे। दूसरों को प्रसन्न करने के लिये चाटुकारिता (चापलूसी) भी न करनी चाहिये। चाटुकारिता एक अवगुण है, झूठी प्रशंसा करने वाले से लोग मन-ही-मन घृणा करते हैं। अतः जिसे लोकप्रिय बनना हो चाटुकारिता का परित्याग करके सबका आदर करना चाहिये। और जिससे सब लोग प्रसन्न रहें, ऐसा आचरण करना चाहिये। महर्षि शुक्राचार्य ने अपने नीति सार नामक ग्रन्थ में जगत् को वश में करने के लोकप्रिय होने के ये-ये कारण बताये हैं।

(१) सदा सबसे प्रेम का व्यवहार करना—संसार के सभी लोग प्रेम के भूखे हैं। जो चिकित्सक रोगियों से प्रेम पूर्वक वर्ताव करता है, उनसे ममता के साथ हँस-हँसकर बातें करता है, उससे सभी प्रेम करते हैं और वह अत्यन्त लोक प्रिय बन जाता है। औषधि का मूल्य और शुल्क तो वह भी लेता है, किन्तु उसे देना अखरता नहीं। लोग प्रसन्नता पूर्वक उसे देते हैं। प्रेम का व्यवहार लोकप्रिय बनाता है।

(२) समीप वास—प्रेम पूर्वक चिरकाल तक समीप रहने से भी प्रियता-मित्रता हो जाती है। विशेषकर राजा लोग तथा स्त्रियाँ समीप रहने वाले से प्रेम करने लगते हैं। जैसे लता समीप में

कैसा भी पेड़ हो उसी से लिपट जाती है। अतः जिनको अपने वश में रखना हो उनके समीप घुल-मिलकर चिरकाल तक निवास करे।

(३) स्तुति—मनुष्य में एक बड़ी भारी त्रुटि है, वह दूसरों से अपनी स्तुति सुनने का इच्छुक रहता है। वह स्पष्ट नहीं कहता किन्तु उसकी हार्दिक इच्छा–आन्तरिक अभिलाषा–यही रहती है, कि लोग मेरे कार्यों की प्रशंसा करें, मेरी स्तुति करें। प्रकारान्तर से लोग पूछ भी लेते हैं। व्याख्यानदाता पूछते हैं—कहो मेरा आज का व्याख्यान कैसा रहा? लेखक पूछते हैं—मेरा वह लेख मेरी वह पुस्तक आपको अच्छी लगी? लोगों की उसके सम्बन्ध में क्या सम्मति है? प्रशंसा स्तुति सुनकर प्रमुदित होना जैवधर्म है। जीव का स्वभाव है। जीव का ही क्यों? स्तुति प्रशंसा से तो परब्रह्म प्रभु भी प्रसन्न होते हैं। इसीलिये किसी कवि ने कहा—संसार में ऐसा कौन-सा व्यक्ति है, जिसे अपनी स्तुति प्रिय न हो (स्तोत्रं कस्य न रोचते भुवि नृणाम्) इसलिये मिथ्या प्रशंसा तो न करे। उदारता के साथ दूसरों के गुणों की प्रशंसा कर दिया करे। बहुत से ऐसे कृपण होते हैं, कि वे दूसरों की निन्दा के अतिरिक्त प्रशंसा करना जानते ही नहीं। ऐसे निन्दक निंदित माने जाते हैं। अतः जहाँ तक हो दूसरों के गुणों की प्रशंसा करनी चाहिये। प्रशंसक पुरुष लोक प्रिय होता है।

(४) नमस्कार—जो अभिवादनशील पुरुष है, उसे सभी प्रेम करते हैं। बड़ों के सम्मुख सिर झुकाने में अपना क्या व्यय होता है उलटे आशीर्वाद प्राप्त होता है। बड़े लोगों के प्रेम भाजन बनते हैं। नमस्कार के ही प्रभाव से मार्कण्डेय मुनि अल्पायु से कल्प जीवी बन गये। जिनका बड़ों के लिये नमन करने का

बन गया है, उनके आयु, विद्या, यश और बल की वृद्धि होती है। अतः अभिवादनशील पुरुष भी लोकप्रिय होता है।

(५) सेवा—सेवा किसी की भी की जाय, व्यर्थ नहीं जाती। फिर जो जनता जनार्दन की सेवा करते हैं, लोकसेवक हैं उन्हें तो सभी लोग प्यार करते हैं। सभी उन्हें अपना ही समझते हैं। सेवा धर्म सबसे श्रेष्ठ धर्म हैं। सेवापरायण व्यक्ति कैसा भी हो कोई भी क्यों न हो, सर्वत्र आदर पाता है। अपने घर का नौकर सेवापरायणता के ही कारण घर में स्वामी का प्रेम भाजन होकर स्वामी के सदृश आदर पाता है, अतः लोकप्रियता का सेवा सर्वश्रेष्ठ सर्वप्रधान साधन है, सेवा से सम्पूर्ण संसार वश में किया जा सकता है। सेवा से भगवद्भक्ति और मुक्ति तक मिलती है। (सेवया किं न लभ्यते) संसार में ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो सेवा से प्राप्त न हो सकती हो?

(६) कौशल्य—दक्षता, चतुरता, उचितज्ञता यह लोक प्रिय बनने का सर्वोत्तम साधन है। कहाँ कैसा व्यवहार करना चाहिये, कहाँ कैसी बात बोलनी चाहिये, कहाँ देना चाहिये, कहाँ हाथ पसारकर नम्रता से लेना चाहिये। इस प्रकार व्यवहार ज्ञान का नाम उचितज्ञता या कौशल है। व्यवहार कुशल लोग सर्वत्र समादृत होते हैं। नर-नारी उनके अधीन हो जाते हैं।

(७) कला—हमारे यहाँ चौसठ कला मानी गयी हैं जैसे गाना, बजाना नृत्य आदि हैं। इनसे जनता का मनोरञ्जन होता है। सच्चा कलाकार सर्वत्र आदर पाता है। कला कौशल लोक प्रियता का साधन है।

(८) कथा वार्ता—प्राचीन काल में न तो कथा कहानियों की इतनी पुस्तकें ही छपती थीं और न समाचार पत्र तथा मासिक आदि पत्रिकायें ही होती थीं। कथाकारों के मुख से कथाओं को ही

सुनकर लोग अपना मनोरञ्जन तथा ज्ञान वृद्धि करते थे। सूतजी सूद जाति के होने पर भी कथाओं के कारण सर्वत्र आदर पाते थे। आज भी जो लोग कथा कहते हैं, दृष्टान्तों में सुन्दर-सुन्दर कहानियाँ सुनाते हैं। वे लोकप्रिय कथाकार माने जाते हैं।

(९) ज्ञानोपदेश—उपदेशक का पद सर्वोत्तम पद है, फिर ज्ञानोपदेशक तो जगत् का गुरु है। जो ज्ञानोपदेशक जगत् में ज्ञानदान करते हैं, वे सबसे बड़े दाता हैं ज्ञानदान समस्त पुण्य-प्रद शुभ कर्मों से श्रेष्ठ है। ज्ञानोपदेशक के सम्मुख बड़े-बड़े सम्राट् नतमस्तक होते हैं। कुशल ज्ञानोपदेशक जनता से जो चाहे सो करा सकता है। जनता उनके वश में होती है।

(१०) आदर दान—प्राणी स्वभावतः दूसरे से आदर चाहता है। जो दूसरों का आदर नहीं करते अथवा निरादर करते हैं। ऐसे कृपण पुरुष जनता के श्रद्धा भाजन नहीं होते। जो सदा दूसरों का आदर सत्कार करता है, किसी का भी निरादर नहीं करता। उन्हीं का सब लोग हृदय से आदर करते हैं। जनता तो कूप के सदृश है, कूप में जैसी ध्वनि करोगे, वैसी ही प्रतिध्वनि सुनायी देगी। जो सबका आदर करता है, सभी उसका आदर करते हैं। सभी लोग उसके वश में रहते हैं।

(११) सरलता—सरलता एक ऐसा गुण है, कि सरल प्राणी से सभी लोग स्वाभाविक प्रेम करने लगते हैं। बच्चों को देखते ही सभी की उनसे प्रेम करने की इच्छा क्यों होती है? इसलिये कि उनमें बनावटीपन नहीं। स्वाभाविक सरलता उनके मुखमंडल पर छिटकती रहती है। सरल कोई भी क्यों न हो सभी उसे चाहते हैं। आपकी गौ, घोड़ा घोड़ी तथा अन्यान्य पशु-पक्षी आदि जितने ही सरल होंगे उतने ही मनुष्योंके प्रीतिभाजन बन सकेंगे। अतः सरलता से प्राणी वश में हो सकते हैं।

(१२) शूरता भी एक श्रेष्ठ गुण है, किन्तु उस शूरता का

सभी प्रकार के प्राणी वश में किये जा सकते हैं। राजा तो अपने धन, वैभव तथा सत्ता के कारण अपने ही देश में आदरणीय तथा पूजनीय माना जाता है, किन्तु विद्वान् की तो देश विदेश में सर्वत्र पूजा होती है। विद्या ऐसा प्रच्छन्न धन है जो कभी नष्ट ही नहीं होता, विद्वान् अपनी विद्वता से जगत् को वश में कर सकते हैं। वे सर्वत्र आदर पाते हैं।

(१५) प्रत्युत्थान—अपने से बड़े सम्माननीय व्यक्तियों के आने पर उठकर उन्हें आदर देना। नम्रता से कन्धा झुकाकर उनके सम्मुख खड़े हो जाना, यह भी ऐसा गुण है, कि इससे जिनका आदर करोगे, वे तो प्रसन्न हो ही जायँगे। अन्य दर्शकों के मन पर भी इस बात की छाप लग जायगी, कि देखो ये कैसे नम्र तथा विनयी हैं। जब बड़े लोग दूर से आते दिखायी दें, तो उठकर आगे जाकर उन्हें ले आना, आदर से बिठाना। और जब जाने लगे तो उन्हें सम्मान पूर्वक विदा करना। यह भी लोगों को वश में करने का गुण है।।

(१६) अभिगमन—जैसे आते समय आगे बढ़कर उन्हें ले आये थे, वैसे ही जाते समय कुछ दूर तक उनके साथ-साथ चलकर उन्हें आदर पूर्वक सवारी तक या कुछ दूर तक पहुँचा आना यह भी विनम्रता का चिन्ह है।

(१७) आनन्द—सबको देखकर प्रसन्ता प्रकट करना, आनन्द विभोर हो जाना, यह [illegible] बहुत भारी गुण है। मनुष्य जो वस्तु खायगा, उसी के उद्[illegible]र-डकार-आवेगी, जिसके भीतर आनन्द है, उसके मुखपर भी सदा आनन्द छलकता रहेगा, उस आनन्द से दूसरे प्राणी भी प्रसन्न होंगे सदा आनन्द में रहने वाला सबसे बड़ा उपकारी है, क्योंकि वह रोतों को हँसाता है। दुखी लोगों को आनन्द प्रदान करता है। जगत् के प्राणी तो

निरानन्द हैं। उन्हे जो अपने आनन्द-से-आनन्द प्रदान करते हैं वे बहुत दान करने वाले भूरिदा जन हैं।

(१८) मंदस्मितपूर्वक अभिभाषण करना—मनुष्य प्रायः संकोचशील प्राणी है और स्त्रियों में तो संकोच की मात्रा पुरुषों से भी अधिक होती है। प्रायः मनुष्य दूसरों से बोलने में संकोच करते हैं और विशेषकर अपरिचित व्यक्तियों से। पहिले बोलने वाले को यह भय बना रहता है, हमारे प्रश्न से ये बुरा न मान जायँ। अतः लोग प्रायः प्रथम बोलने में संकुचित होते हैं। किसी के कुछ पूछने पर आपने रूखा उत्तर दे दिया, या उसके प्रश्न को वैसे ही टाल दिया तो पूछने वाले का पुनः प्रश्न करने का साहस नहीं होता। यदि आप दूसरों के प्रश्न का मन्द-मन्द मुस्कराकर प्रेम पूर्वक उत्तर दें, तो प्रश्नकर्त्ता का भी साहस बढ़ता है, और देखने वाले भी प्रसन्न होते हैं। ऐसे मुस्कराकर मधुर बोलने वाले व्यक्ति परम लोकप्रिय होते हैं। भगवान् रामचन्द्रजी के सद्‌गुणों का वर्णन करते हुए आदि कवि ने उनमें सबसे बड़ा गुण यह बताया है, कि हँसकर वे पहिले ही सबसे प्रश्न करते थे। (स्मित पूर्वाभिभाषिणः) किसी को देखते ही हँसकर पहिले ही पूछ लिया—"कहो जी, अच्छे हो।" तो ऐसे लोग जनता जनार्दन के आदर भाजन बन जाते हैं।

(१९) परोपकार—परोपकार तो लोकप्रिय बनने का–जगत् को वश में करने का–सर्वोत्कृष्ट साधन हैं। संसार में जितने भी प्रातःस्मरणीय, परम आदरणीय पुरुष हुए हैं, वे सब परोपकार के ही कारण, सभी के हृदय सम्राट बन सके हैं। प्राणी स्वभावतः स्वार्थ परायण हैं। अपने स्वार्थ का परित्याग करके परोपकार में ही जो लगा रहे, उसकी लोकप्रियता के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या? परोपकार के ही लिये सज्जनों की समस्त विभूतियें हुआ करती

है। उत्तम पुरुष परोपकार के निमित्त प्राणों का भी परित्याग कर देते हैं, इसी कारण वे कीर्ति के द्वारा सदा के लिये अमर बन जाते हैं।

(२) सदाशय—सबके साथ सहृदता प्रकट करना। अपने विचारों को सत्यता के साथ सहृदयता के साथ व्यक्त करना किसी प्रकार का छल-कपट न करना, यह भी लोकप्रियता में सबसे बड़ा गुण है।

उपर्युक्त गुण तथा इन्हीं के सदृश अन्यान्य भी सद्गुणों के कारण लोगों को वश में किया जा सकता है। समस्त सद्गुणों का समावेश १. सेवा, २. सदाचार, ३. सरलता, ४. सत्य तथा ५. सहृदयता इन्हीं में आ जाता है। सबके साथ सौहार्द भाव रखकर, सत्यता के साथ सरलता पूर्वक सदाचारयुक्त होकर जो सेवा में तत्पर रहता है उसी के लोग वश में हो जाते हैं, उसी का सब लोग हृदय से आदर करने लगते हैं।

असहयोग के समय सेवा और सदाचार की एक लहर बह गयी थी। लोगों में त्याग की भावना बलवती हो गयी थी। सेवा के साथ-साथ जिनमें उपर्युक्त गुणों में से जितने गुण अधिक थे, वे उतने ही अधिक लोकप्रिय हो गये थे। जैसे कभी-कभी महामारी आदि छूत के रोग एक साथ फैल जाते हैं, वैसे ही कभी-कभी सद्गुणों की भी सार्वजनिक रूप से बाढ़ आ जाती है, जैसे बौद्ध-काल में त्याग की बाढ़ आ गयी थी, आचार्यों के काल में भक्ति की बाढ़ आ गयी थी। वैसे ही सन् २१ के असहयोग आंदोलन के समय त्याग, सहिष्णुता आदि सद्गुणों की सार्वजनिक बाढ़ आ गयी थी। बड़े-बड़े अधिवक्ता अपनी लाखों रुपयों की आय का परित्याग करके त्यागी विरागी बन गये थे। सरकारी अधिकारियों ने अपने अधिकार छोड़ दिये, धनिकों ने धन का मोह

छोड़ दिया। राजाओं, भूमिपतियों ने अपने राज्य सम्मान का त्याग कर दिया, छात्रों ने विद्यालय, महाविद्यालयों का परित्याग कर दिया। उस समय किसी ने वस्त्र पहिनना ही त्याग दिया, किसी ने मादक वस्तुओं को त्यागा, किसी ने अन्न खाना छोड़कर मूँगफली आदि सस्ते फलों पर ही निर्वाह करना आरम्भ कर दिया। सभी को एक ही धुनि थी, जेलों को भर दो, फाँसी के तख्तों पर लटक जाओ। उन दिनों जेल जाना सबसे श्रेष्ठ कार्य समझा जाता था, जो लोग जेल जाते, जनता उनका अत्यधिक आदर करती। उनकी शोभा यात्रा निकाली जाती। लाखों लोग उनमें सम्मिलित होते। सरकारी कर्मचारियों की भी इनके साथ भीतर-ही-भीतर हार्दिक सहानुभूति होती। वे भी हाथ पैर बचा-कर उनके सम्मानों में सहयोग करते। समाचार पत्र कारावास के यात्रियों के समाचारों से ही भरे रहते। आज वे पकड़े गये, आज उनको जेल भेज दिया। सर्वत्र यही धूम थी। अँगरेज अधिकारी चाहते थे, जितने भी ये आंदोलनकारी हैं, सबको पकड़कर कारा-वासों में बन्द कर दो। सधारण जनता को, लाठी, डंडा तथा गोलियाँ चलाकर, भय दिखाकर शान्त कर दो। स्थान-स्थान पर गोलियाँ चलायी जातीं, प्रत्येक जनपद के चुन-चुनकर कार्यकर्त्ता पकड़े जाते। हमारे यहाँ के भी कई पकड़े गये। किन्तु मैं अपने परगना अधिकारी की ब्रह्मण्यता के कारण बचा हुआ था। यह मेरे लिये असह्य था। जब कोई मुझसे पूछता—"कहिये ब्रह्मचारी जी! अभी तक आप नहीं पकड़े गये? आप कैसे बचे हुए हैं?"

तो मुझे लगता, यह मुझे गाली दे रहा है, मेरा अपमान कर रहा है। मैं ऊपर से तो बात को हँसकर टाल देता, किन्तु मन-ही-मन दुःखी होता। वैसे, मैं धन, वैभव, विद्या, आदिसे रहित होने

पर भी जनता का स्नेह भाजन था, किन्तु अब तक पकड़ा नहीं गया, यही मेरे लिये दुःख की बात थी।

समय की बलिहारी तो देखिये। जिस जेल का नाम सुनते ही बड़े-बड़े लोग भयभीत हो जाते हैं। हम किसी प्रकार जेल के फाटक के भीतर न जायँ, हमारे हाथों में हथकड़ी न पड़े, इसके लिये लोग लाखों रुपये व्यय करते थे। आज हम उसी के लिये परम उत्सुक हो रहे हैं, किस प्रकार हमारे हाथों में हथकड़ियाँ पड़ें, कैसे हम जेल जा सकें इसी के लिये व्याकुल थे। अन्त में भगवान् ने मेरी प्रार्थना सुन ली।

एक दिन मैं टहलने जा रहा था, सायंकाल का समय था, नगर के बाहर पुलिस की चौकी थी। वहाँ एक पुलिस का अधिकारी बैठा था, उसने बड़े आदर पूर्वक मुझे बुलाया। और बोला—"ब्रह्मचारी जी! तनिक थाने तक चलिये।"

मैंने बड़ी उत्सुकता से पूछा—"क्या मुझे पकड़ने का आदेश पत्र (वारंट) है क्या?"

उसने कहा—"नहीं, चलिये आपसे कुछ बातें करनी है।"

मैं तो उधार खाये ही बैठा था, जैसा था, वैसा ही चला गया वास्तव में मेरे नाम पकड़ने का आदेश पत्र नहीं था। धारा १०८ की विज्ञप्ति थी। मुझसे साद्य द्रव्य (जमानत) वैयक्तिक विश्वास वचन (मुचलके) माँगे गये थे। न देने पर धृत–पकड़ने–का आदेश था। उन दिनों अभियोग में निरपराधता प्रकट करना साक्ष्य द्रव्यादि न देने का आदेश था। अतः मुझे वहीं थाने में रख लिया, विद्युत की भाँति पूरे नगर में यह समाचार फैल गया। सहस्रों पुरुषों ने आकर थाने को घेर लिया। दरोगा बड़ा उदार था। उसकी पत्नी बड़ी सती साध्वी और स्वातन्त्र संग्राम से सहानुभूति रखने वाली साधु सन्तों पर श्रद्धा रखने वाली थी।

दरोगा ने मुझे स्वतन्त्रता दे दी आप चाहें जिससे मिल सकते हैं, चाहें जहाँ तक जा सकते हैं। बड़े सम्मान से बैठने को मुझे पीठ (कुरसी) दी। सर्व प्रथम वैद्यराज पं० नारायणदत्त जी आये। फिर सभी लोग आने लगे। मैं थाने के बाहर गया, भाषण किया। बड़ी रात्रि तक दर्शनार्थियों का ताँता लगा रहा।

थानेदार की पत्नी ने स्वयं अपने हाथ से पूड़ी कचौड़ी आदि व्यञ्जन बनाये। बड़े प्रेम से प्रसाद पवाया। किन्तु रात्रि में सोने के लिये अपराध गृह (हवालात) में ही प्रबन्ध किया। प्रातः अत्यन्त ही भोर मे मुझे उठाया गया। हथकड़ी पहिनाकर घोड़ा-गाड़ी में बिठाकर सूर्योदय होते-होते बुलन्द शहर जिला जेल में पहुँचा दिया गया। जीवन में आज सर्व प्रथम जेल के दर्शन किये। किन्तु मुझे तनिक भी भय नहीं लगा। प्रत्युत परम प्रसन्नता प्राप्त हुई। मेरी चिरभिलाषित इच्छा पूर्ण हुई।

उस समय जेल में बुलन्द शहर जनपद के कई राजनैतिक बन्दी और भी कई प्रतिष्ठित बन्धु बन्द थे। उनमें अधिवक्ता (वकील) उपदेशक तथा और भी उच्च श्रेणी के थे। उनको अभी दण्ड नहीं दिया गया था, उनका अभियोग विचाराधीन था। मुझे भी उन्हीं सब के साथ रखा गया। भोजन की व्यवस्था अत्यन्त सुन्दर थी। हमें जेल का पता ही न चला जेल है। ५-७ एक से साथी थे, साथ ही सुन्दर भोजन बनता। खाते थे, खेलते थे, पढ़ते थे, पता ही न चला कब समय बीत गया। हमारे सभी साथियों के अभियोग का निर्णय हो गया। उनको कारावास का दंड सुना दिया गया और उन्हें विभिन्न जेलों में भेज दिया गया। अब मैं अकेला ही रह गया।

एक दिन जेलर ने आकर आधसेर आटा, थोड़ी दाल और नमक मेरे पास भिजवाया। मैंने उसे लौटा दिया। तब जेलर ने

कहा—विचाराधीन वन्दियों को नियमानुसार इतनी ही सामिग्री मिलती है। यह जो आप लोगों को मैं इतनी सामिग्री देता था अपनी ओर से देता था। केवल आपको सूचनार्थ यह भिजवाया था। "जब तक आप रहेंगे, आपको भी मैं वैसा ही देता रहूँगा।" यह कहकर उसने फिर यथेष्ट सामिग्री भिजवायी।

भोजन बनाने के लिए, सेवा के लिये हमें एक लम्बरदार मिला था, वही दोनों समय हमारा भोजन बनाता था। तथा और भी पानी लाना वस्त्र धोना आदि सब काम करता था। साधारण जेली जेल में चार प्रकार के होते हैं। एक तो सर्वसाधारण जेली, जिनसे कसकर काम लिया जाता है। कुछ अच्छे चाल चलन के कम दंड वाले, जेलियों को काम कराने वाला बन्दी (सी. एन.) बना दिया जाता है, वे केवल एक वर्ग के कैदियों से काम कराते हैं, स्वयं काम नहीं करते। जब उनकी पदोन्नति होती है तो वे नम्बरदार (सी. ओ.) बना दिये जाते हैं। फिर नम्बरदार से पदोन्नति होकर वे पहरेदार (सी. डब्ल्यू) बना दिये जाते हैं, जिनकी कारावास की अवधि लम्बी होती है, वे ही पहरेदार बनाये जाते हैं। उन्हें पारिश्रमिक के रूप में कुछ मासिक भी मिलता है और कारावास की अवधि में भी कुछ छूट मिलती है, वे अपने लिये खाने की वस्तुएँ स्वयं भी बना लेते हैं और अपने को कैदियों में श्रेष्ठ मानते हैं, वे डंडा भी रखते हैं और अन्य कैदियों को मारते पीटते भी हैं।

जेल एक नवीन ही संसार है। जेल वाले जेल से बाहर को संसार कहा करते हैं! अपने को संसार से पृथक् मानते हैं। वहाँ बीड़ी सिगरेट पीना तथा किसी भी प्रकार की मादक वस्तु, द्रव्य, अस्त्र, शस्त्र रस्सी आदि कुछ भी नहीं रख सकते, बाहर से फल, साग तथा खाने पीने की कोई भी वस्तु नहीं मँगा सकते।

वहाँ सभी आता है, सभी काम होते हैं। दिन में कई बार अन्वेषण (तलाशी) होती है, फिर भी सब वस्तुएँ आती हैं। कैसे आती हैं ? चोरी से आती हैं, जिन्हें जेल की भाषा में तिकड़म से आना कहते हैं। जेल में तिकड़म बहुत चलती है। कहना चाहिये जेल जीवन तिकड़म पर ही आधारित है। हमारे भी बहुत से राजनैतिक बन्दी तिकड़म से समाचार पत्र, मिठाई, पान, तमाखू, सिगरेट आदि बहुत-सी निषिद्ध वस्तुओं को मँगाया करते थे। जेल में भी चोरी, जूआ आदि सभी बाहर के से काम करते हैं। मनुष्य तो वे ही हैं, अपने पुराने व्यसनों को जेल में जाने पर भी नहीं छोड़ सकते। यही जैव धर्म है।

हमारे लिये जेल की बगिया से नित्य साक भाजी आया करती थी। एक-एक हाथ लम्बे बैंगन भाटा आते। इतने लम्बे बैंगन बाहर मैंने कभी भी नहीं देखे थे। सब वस्तुएँ लेने हमारा नम्बरदार जाता था अतः वह दुगुनी चौगुनी लेता। अधिक सामग्री बनाता। हमारे प्रसाद पाने पर शेष सब उसी का होता। स्वयं खाता था और दूसरे अपने साथियों को भी बाँटता था।

एक दिन मैंने देखा, हमारा नम्बरदार चार पाँच सेर आटे की रोटी बना रहा है। मैंने पूछा—"इतनी रोटी किसके लिये बना रहे हो ?" उसने कहा—"ऐसे ही अपने साथियों के लिये बना रहा हूँ।"

मैंने पूछा—"इतना आटा कहाँ से लाये ?"

उसने कहा—"ऐसे ही तिकड़म से ले आया हूँ।"

बात यह थी कि हमारी कुटिया (बैरक) के पीछे ही चक्की घर था, पहरेदारों की आँख बचाकर उसके साथियों ने कपड़े में आटा बाँधकर दीवाल के इस पार फेंक दिया। इसे बीड़ी आदि वे दे देते होंगे। इससे यह बना-बनाकर उन्हें रोटी दे देता था। जेल

में तौलकर भोजन मिलता था उससे किसी का पेट भर जाता था, कोई भूखों रह जाता था। भूखे लोग नाना तिकड़म करके पेट को भरते। कुछ लोगों पर रोटी बच भी जाती थी, वे भंगी को देते थे। रोटी पाने के लोभ से उच्चवर्ण के लोग भंगी का काम करने को स्वेच्छा से उद्यत हो जाते थे। पहिले जेलों में रोटी बनाने को ब्राह्मण कैदी ही रखे जाते थे। रसोइया यथेष्ट रोटियाँ बचा लेते थे, इस लोभ से अन्य जाति के भी ब्राह्मण बनकर तिकड़म से रसोइया बन जाते थे। तिकड़म से दूध भी आ जाता और संसार की सभी वस्तुएँ तिकड़म से जेलों में भी प्राप्त हो जाती।

जेली प्रायः अपने पास सभी द्रव्य रखते। वैसे नियमानुसार कोई भी बन्दी अपने पास द्रव्य नहीं रख सकता। दिन में दो बार खोज (तलाशी) ली जाती। सब लोग मुख में द्रव्य रखते थे। एक काँच की गोली विशेष ढँग से रखते-रखते मुख में एक बड़ा-सा गड्ढा हो जाता उसमें बहुत से लोग तो २-२, ४-४ रुपये की रेजगारी रख लेते। मैंने बहुतों को मुख में से पैसे निकालते देखा। मनुष्य अपने स्वभाव से विवश है स्वभाव को दुस्त्यज बताया है। स्वर्ग में जाओ, नरक में जाओ पृथ्वी पर रहो रहना होगा स्वाभाव के वशीभूत होकर। जिसने स्वभाव पर विजय पाली उसने जीवन पर विजय प्राप्त कर ली।

जेल में कोई काम तो था नहीं। इधर कई महीनों तक गाँवों में घूम-घूम कर बड़ा परिश्रम किया था, दिन-रात्रि एक कर दिये थे। उस समय तो उत्साह में पता नहीं चला, किन्तु जेल में आते ही बड़ी थकावट अनुभव होने लगी। मेरे अभियोग के निर्णय में लग-भग एक मास लगा। इस बीच में यथेष्ट सोकर समस्त थकावट मिटा ली। पहिले कभी जीवन में इतना सोया हूँगा, स्मरण नहीं आता।

जेल में सूर्यास्त के समय तक सभी कैदी अपनी-अपनी वैरिकों में वन्द कर दिये जाते हैं। उसके साथ दो तीन पहरेदार कैदी भी रहते है। वे रात्रिभर भीतर की चौकसी करते हुए पहरा देते हैं। वाहर सिपाही (वार्डर) प्रधान सिपाही (जमादार) कारागार-पाल (जेलर) उपकारागार पाल (नायव जेलर) पारी-पारी से चौकसी में घूमते रहते हैं। भीतर चौकसी करने वाले कैदी पहरेदार तनिक-तनिक देर में चिल्ला-चिल्ला कर कहते रहते हैं—"जैसे एक वन्दी भवन में ३० वन्दी वन्द है, तो पहरेदार चिल्लावेगा—एक–दो–तीन–चार (ऐसे उच्च स्वर से ३० तक गिनेगा) फिर कहेगा–तीस कैदी एक में इकत्तीस। इकत्तीस कैदी ताला, जंगला, लालटैंन सब ठीक है साहेब १८ नम्बर।" फिर १६ नम्बर वाला वोलेगा। इस प्रकार रात्रिभर ताला जंगला, लालटैंन के ठीक होने की घूम मची रहती है। इस घूम धड़ाके में सभी कभी कैदी खुर्राटे भरते हुए सोते रहते हैं और लोहे के जंगलों को काटकर कभी-कभी कुछ कैदी भग भी जाते हैं। कैसी भगवान् की माया है, कैसी इस मानव प्राणी की खोपड़ी है। सभी नियमों में अपवाद ढूँढ़ लेता है। सरकार कितने भी कड़े-से-कड़े नियम वना दें। उसमें से भी युक्ति से मार्ग निकाल कर यह विचित्र खोपड़ी का जन्तु चोरी के लिये मोरी निकाल लेता है।

मेरे यहाँ ताला जंगला लालटैंन की पुकार नहीं होती थी। पूरे भवन में मैं और मेरा लम्बदार दो ही रहते थे। सूर्यास्त से पहिले जहाँ हमारी कुटी (वैरिक) में ताला पड़ा कि मैं सो जाता था। प्रातः लगभग ६ बजे उठता। उठकर नित्य कर्म करता। दस वजे तक प्रसाद तैयार हो जाता। प्रसाद पाकर फिर सो जाता और फिर चार वजे उठता सायं कालीन कृत्य करके प्रसाद पाते-पाते ताला वन्द करने वाले पहरेदारों का समूह आ जाता मुझे देर

होती तो बैठे रहते। सभी मेरे साथ अत्यन्त सभ्यतापूर्ण बर्ताव करते। जहाँ ताला बन्द हुआ नहीं कि मैं सो जाता। इस प्रकार प्रत्येक दिन लगभग १५-१६ घंटे सोता। इससे समस्त पुरानी थकावट उतर गयी और मैं पूर्ण स्वस्थ हो गया।

बीच में कभी-कभी न्यायालय से न्यायाधीश द्वारा बुलावट होती, तब न्यायालय जाना पड़ता। जीवन में पहिले ही पहिल न्यायालय, न्याय-नाटक देखने को मिला। उसमें भी बड़ा आनंद आया। स्थान समाप्त हो गया। अब न्यायालय का वृत्तान्त अगले अंक में देखा जायगा।

छप्पय

मान बड़ाई हेतु नहीं सेवा अपनावें।
प्रभु की पूजा समुझि करें सेवा सुख पावें॥
हरि ही जग बनि गये भाव मनमें यह राखें।
करूँ सबनि दुख दूरि, नहीं करता बनि माखें॥
करत करावत प्रभु सकल, निमित मात्र हैं जीव सब।
करें प्रतीक्षा अहर्निशि, अपनावेंगे नाथ कब?॥

फाल्गुन-कृ- ५। २०२८
संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर (प्रयाग) } प्रभुदत्त

तीन धर्म के आधारस्तम्भ

[१३१]

त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति। प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसँ‍स्थोऽमृतत्वमेति ॥*

(छा० उ० २ प्र० २३ ख० १ मं०)

छप्पय

धरम तीनि इस्कन्ध यज्ञ, अध्ययन, दान उत।
दूसर तप इस्कन्ध तीसरो ब्रह्मचर्य व्रत॥
गुरुकुल में बसि छात्र ब्रह्मचारी-व्रत धारे।
काया कूँ कृश करै चित्त चञ्चलता मारे॥
पुण्यलोक भागी सबहिँ, निज निज धरमनि धारिकें।
भोगनि तैं उपरत रहै, मदमाते मन मारिकें॥

धर्म शब्द इतना व्यापक है, कि इसको यथार्थ रूप में परि-

---

* तीन धर्म के स्कन्ध हैं, यज्ञ, अध्ययन और दान ये प्रथम स्कन्ध हैं, तप द्वितीय स्कन्ध है। ब्रह्मचारी जो आचार्य कुल में वास करता है अपने शरीर को सेवा तपस्या द्वारा क्षीण कर देता है यह तृतीय स्कन्ध है। ये समस्त पुण्यलोक के अधिकारी होते हैं। ब्रह्म में संस्थित पुरुष अमृतत्व को प्राप्त करता है।

भाषा करना कठिन है। जैवधर्म, चौरधर्म, वेश्याधर्म, ये शब्द भी आते हैं। आहार, निद्रा, भय और मैथुन ये जैवधर्म हैं। चोरी कैसे करनी चाहिये, इसका वर्णन चौरशास्त्र में है। वेश्याओं को अपनी वृत्ति करते हुए भी स्वधर्म का पालन कैसे करे यह वेश्या-धर्म है। कहीं-कहीं 'धर्म' शब्द वर्णाश्रम विहित वृत्ति के अर्थ में आता है। अपने धर्म में स्थित रहना श्रेयस्कर है, पराया धर्म भयावह है (स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः) यहाँ धर्म शब्द वर्णाश्रम धर्म विहित वृत्ति से ही अभिप्रेत हैं। जब ब्राह्मण ने धर्मव्याध से कहा—"कि इतने ज्ञानी होकर भी जो आप मांस बेचने का व्यवसाय करते हैं, यह उचित नहीं। इस निन्दित व्याव-साय को आपको छोड़ देना चाहिये।"

इस पर धर्मव्याध ने कहा—"देखिये, यह मेरा वंश परम्परा का धर्म है, इसे मैं छोड़ नहीं सकता। मैं स्वयं जीवों की हिंसा नहीं करता, मैं स्वयं मांस नहीं खाता। मैं मांस लाकर बेचता हूँ। यह मेरी कुलगत वृत्ति है अपना धर्म यदि सदोष भी हो, तो उसे छोड़ना न चाहिये। क्योंकि कोई भी कर्म निर्दोष नहीं है। जैसे धूँये से अग्नि आवृत्त रहती है।"

यहाँ धर्म वंश परम्परा से चली आयी वृत्ति के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। ये सब कर्तव्य भी धर्म हैं, किन्तु वास्तव में जिसके पालन के लिये अत्यन्त बल दिया है, वह प्रेरणा लक्षण रूप ही धर्म है। ऐसा करना चाहिये ऐसा नहीं करना चाहिये जिससे यह ज्ञात हो वही धर्म है। वह जैवधर्म से ऊपर का धर्म है। आहार, निद्रा, भय और मैथुन ये तो सभी जीवों में पशु-पक्षियों में और मनुष्य में समान ही हैं। इन कार्यों में तो सभी जीव समान धर्मी हैं, किन्तु मनुष्य में 'धर्म' ही अधिक है। धर्म से जो हीन है, वह पशु तुल्य है। यहाँ धर्म शब्द उस धर्म को बताता है; जिससे

अभ्युदय और निःश्रेयस् (मोक्ष) की प्राप्ति हो सके। हम कोई धर्म विरुद्ध कार्य तो नहीं कर रहे हैं, इसे सर्वदा ध्यान में रखे। इसमें कभी प्रमाद न करे। जिन बातों पर सदा दृष्टि रखे वह धर्म क्या है ? इसके लिये स्मृतियों में धर्म की एक बहुत संक्षिप्त किन्तु अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण व्याख्या की है। आज-कल धर्म शब्द का अर्थ बहुत ही संकुचित लिया जाता है। ईसाईधर्म, मुसलिमधर्म यहूदीधर्म, पारसीधर्म, हिन्दुधर्म और उसका अर्थ है इस वर्ग के लोग जैसे उपासना करते हों, जैसे वाह्य चिन्ह रखते हों, जैसी दीक्षा लेते हों, वे बातें। किन्तु यह धर्म का अत्यन्त संकुचित अर्थ है। ईसाई, मुसलमान, हिन्दु, यहूदी सभी का धर्म एक ही है। जिन्हें आज धर्म कहा जाता है, वे तो रीति, रिवाज, पद्धति तथा वाह्य चिन्ह मात्र हैं। वाह्य चिन्ह धर्म में विशेष कारण नहीं माने गये हैं। (न लिङ्ग धर्म कारणम्) तब धर्म क्या है ? इसका मनु महाराज उत्तर देते हैं–१. धारना (धृति) २. क्षमा, ३. मनका निरोध करना, ४. चोरी न करना, ५. शौच (भीतर बाहर की पवित्रता), ६. इन्द्रियों का निग्रह करना, ७. बुद्धि को विकसित बनाना, ८. जिससे मुक्ति तक पहुँच सके उस विद्या का अर्जन करना, ९. सत्य भाषण और १०. क्रोध न करना ये दश धर्म के लक्षण हैं। अब बताइये इसमें सदाचार की कौन-सी बात रह गयी। किसी भी वर्ग के, किसी भी सम्प्रदाय–मजहब–विलीजन–के लोग इनमें से किसी भी एक बात का खण्डन कर सकते हैं ? धर्म का यह कैसा व्यापक–विस्तृत–अर्थ है। ऐसा धर्म ही समस्त संसार की सम्प्रतिष्ठा है। ऐसे ही धर्मात्मा पुरुष के समीप–फिर वह किसी देश, किसी जाति, किसी वर्ग तथा कैसे भी उपासना करने वाला हो, उसी के समीप सभी लोग जाते हैं, उसी धर्मात्मा पुरुष का आदर करते हैं। ऐसे ही धर्म से मनुष्य अपने पूर्वकृत पापों को

दूर करते हैं तथा पाप कर्मों से बचते हैं। ऐसे व्यापक धर्म में ही सर्व धर्म प्रतिष्ठित हैं, ऐसे ही धर्म को लोग सर्वश्रेष्ठ धर्म कहते हैं।

जो पुरुष सुख-दुःख में धैर्य धारण करता है, जो अपराध करने वाले को भी सच्चे हृदय से क्षमा कर देता है, जो चित्त की बिखरी वृत्तियों को रोककर धर्म कार्यों में या परमात्मा में लगाता है, जो कभी किसी के धन को अन्याय से लेने की कभी मनसे भी इच्छा नहीं रखता है, जो भीतर बाहर से पवित्र शुचि रहता है, जो विषयाभिमुखी इन्द्रियों को विषयों से रोककर उन्हें सत्पथ में प्रवृत्त करता रहता है, जो अपनी बुद्धि को सदा विशुद्ध बनाये रखता है, बुद्धि में कभी मलिनता नहीं आने देता। लोभ के वशीभूत होकर कभी सत्पथ से विचलित नहीं होता, जो विद्याभ्यास में सदा लगा रहता है, जो सदा सत्य भाषण करता है, सम्पूर्ण व्यवहार में भी सत्य का आचरण करता है, जो क्रोध का प्रसङ्ग आने पर भी क्रोध नहीं करता वास्तव में वही धार्मिक है, उसी ने धर्म का यथार्थ मर्म समझा है, नहीं तो धर्म के नाम पर जो आज हो रहा है, उसे अधर्म न कहें तो फिर दम्भ, पाखंड, अधर्म अन्याय क्या है ? जो दश लक्षण वाला धर्म बताया है, जो इन्हें छोड़ देता है, धर्म भी उसे छोड़ देता है, जो इस दश लक्षण वाले धर्म की रक्षा करता है, तो धर्म भी उसकी रक्षा करता रहता है। ऐसे महान् धर्म का कभी भूल से भी लोभ-लालच में पड़कर भी त्याग नहींकरना चाहिये।

वास्तव में तो हम सब धर्म के ही सहारे जी रहे हैं। यदि सभी प्राणी इस दश लक्षण वाले धर्म को छोड़कर अधीर हो जायँ, एक दूसरे से सदा बदला ही लेते रहें, मन को स्वच्छन्द छोड़ दें। मन में जो आवे उसे ही करने लगें, दूसरों के धन को जिस

प्रकार भी हथियाने का प्रयत्न करते रहें, सदा अपवित्र बने रहें। इन्द्रियों को स्वच्छन्द विचरण करने दें, बुद्धि को विपरीत पथ पर चलने दें, विद्याध्ययन न करें, सदा असत्य ही भाषण करते रहें, कोई हमारा तनिक भी अपराध कर दे, तो उसके ऊपर कुपित होकर उसे गाली दे, मार दें यदि लोग ऐसे अधर्म का सब आचरण करने लगें, तो धर्म हमें नाश कर देगा, धर्म से हमारी यही प्रार्थना है, कि हम धर्म को त्यागे नहीं और धर्म भी हमें न त्यागे हमसे प्रेम करे हमारा वध न करे।

वास्तव में देखा जाय, तो संसारी लोग जो झूठा प्रेम प्रदर्शित करते हैं, हमारे प्रति मैत्री भाव दिखाते हैं, यह सब असत्य है। आहार, निद्रा, भय, मैथुन में निरत यह क्षुद्र प्राणी तो विषयों में ही आसक्त रहता है, जिसे विषयों से प्रेम है वह दूसरों से मित्रता कैसे निभा सकता है, दूसरों के प्रति मित्रता प्रदर्शित करे भी तो वह स्वार्थ जनित मित्रता है, विषयों की प्राप्ति के निमित्त दूसरों के प्रति मिथ्या मैत्रीभाव दिखाता है, जो विषयों का दास है, वह वास्तविक मित्र नहीं। यथार्थ मित्र तो धर्म ही है। ये संसारी मित्र तो स्वार्थ सिद्ध न होने पर मैत्रीभाव छोड़ देते हैं, बहुत से लोग जीवनपर्यन्त मैत्री निभाते हैं, किन्तु मरने पर तो वे भी छोड़ देते हैं, किन्तु धर्म तो मरने के पश्चात् भी मैत्री नहीं छोड़ता, वहाँ भी वह अभीष्ट फल देता रहता है। अतः सदा सर्वदा धर्म का ही आचरण करे। धर्म से ही मैत्री करे। कैसी भी विपत्ति आ जाय धर्म का परित्याग न करे। अपने धर्म की दृढ़ता के साथ रक्षा करे। जो धर्म की दृढ़ता से रक्षा करता है, धर्म भी ऐसे धर्मात्मा पुरुष की सदा रक्षा करता रहता है। भगवती श्रुति उसी धर्म के तीन स्कन्ध–तीन विभागों का वर्णन करती है। ये तीन ही धर्म के आधार स्तम्भ हैं। इन तीन के सहारे ही धर्म टिका हुआ है। जो

धर्म का आश्रय लेकर वर्तते हैं—व्यवहार करते हैं, उन्हें त्रिवर्ग की प्राप्ति के अनन्तर अन्त में चौथे वर्ग की—मोक्ष की—अमृतत्व की प्राप्ति होती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब धर्म किन खम्भों के सहारे खड़ा है, इसका वर्णन करते हैं?"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! प्रकरण तो यहाँ उपासना का था, बीच में धर्म की बात कैसे आ गयी?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! अब तक तो सब उपासनायें सकाम बतायीं। इन उपासनाओं से सन्तान, पशु, धन, धान्य तथा स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति होती है। अब आगे इन्हें मोक्ष की साधनभूता ओंकार की उपासना को कहना है। धर्म भावना विहीन अधार्मिक पुरुष मोक्ष का साधन कर ही नहीं सकता। एकमात्र धर्म ही ऐसा है जिससे अर्थ, काम तथा मोक्ष की भी प्राप्ति हो सकती है। मोक्ष की प्राप्ति ओंकारोंपासना से ही सम्भव है। अतः उसके साधनभूत धर्म स्वरूप बताकर तब आगे ओंकार की उपासना कहेंगे। हाँ, तो धर्म के तीन ही आधारस्तंभ हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"वे तीन आधारस्तम्भ कौन-कौन से हैं?"

सूतजी ने कहा—"यज्ञ, अध्ययन और दान ये तीन तो पहिले स्कन्ध हैं। तप दूसरा स्कन्ध है, और ब्रह्मचर्य व्रत यह तीसरा स्कन्ध है। विभाग है।"

शौनकजी ने पूछा—"क्या इन तीनों से मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है?"

सूतजी ने कहा—"धर्म से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। धर्म से तो स्वर्गादि पुण्यलोकों की ही प्राप्ति सम्भव है। हाँ, धर्माचरण से मोक्ष का मार्ग परिष्कृत हो जाता है। धर्म से त्याग का महत्व जाना जाता है, त्याग से ज्ञान की प्राप्ति होती है और ज्ञान

मोक्ष मिलती है। धर्म मोक्ष में प्रत्यक्ष कारण नहीं परम्परया कारण है। अतः धर्माचरण करके अन्तःकरण को विशुद्ध बनाना चाहिये।"

शौनकजी ने पूछा—"आपने धर्म के तीन स्कन्ध विभाग बताये। इनमें पहिले स्कन्ध में यज्ञ, अध्ययन और दान इन तीन को बताया। इनमें से यज्ञ का स्वरूप बताइये।"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! आप सब जानते हैं। अग्नि में हवि दी जाय, जिसमें देवताओं को हविर्भाग दिया जाय उसी का नाम यज्ञ है। वैसे तो जितने भी शुभ कर्म हैं, सबकी यज्ञ संज्ञा है। जैसे द्रव्ययज्ञ, तपयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ, ज्ञानयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, आरम्भयज्ञ, हविःयज्ञ, जपयज्ञ, परिचर्यायज्ञ, दानयज्ञ सभी की यज्ञ संज्ञा है। किन्तु यहाँ यज्ञ शब्द से अग्नि में देवताओं के निमित्त आहुति देने से ही तात्पर्य है। द्विज गृहस्थ के लिये नित्य अग्निहोत्र आदि पंचयज्ञ परमावश्यक बताये हैं। उनसे ही यहाँ तात्पर्य है।"

शौनकजी ने पूछा—"अध्ययन क्या ?"

सूतजी ने कहा—गुरु मुख से ग्रन्थ का आनुपूर्वक श्रवण का नाम अध्ययन है। जैसे गृहस्थ का यज्ञ करना परमधर्म है, वैसे ही ब्रह्मचारी का गुरुकुल में जाकर अध्ययन करना परमधर्म है। विद्यार्थियों के लिये अध्ययन ही परम तप बताया गया है। अध्ययन के बिना धर्म का ज्ञान नहीं होता। बिना अध्ययन किये जो व्यवसायों में प्रवृत्त हो जाते हैं, वे प्रायः अधर्म ही करते हैं। इसलिये धर्मज्ञान के लिये अध्ययन परम आवश्यक है।"

शौनकजी ने पूछा—"दान क्या ?"

सूतजी ने कहा—"किसी वस्तु में से अपनापन त्यागकर उसे सत्पात्र को प्रदान करने का नाम दान है। वह दान चार प्रकार

का होता है। १. नित्यदान, २. नैमित्तिक दान, ३. काम्यदान और ४. विमल दान। नित्यदान तो अपनी शक्ति सामर्थ्य के अनुसार नियमित रूप से अन्नादि वस्तुओं को देते रहना। यह भेदभाव देते समय न करे कि इससे हमारा कौन-सा स्वार्थ सिद्ध होगा। सत्पात्र याचक को देवे। अन्न के लिये जिसके पेट हो भूखा हो वे सभी पात्र ही हैं। दूसरा नैमित्तिक दान है। मावस, पूर्णिमा, संक्रांति, व्यतीपात आदि पर्वों के आने पर दान दिये जायँ, अथवा पुण्य-क्षेत्रों के निमित्त से तीर्थयात्रा प्रसंग में दिये जायँ या पापों के प्रायश्चित निमित्त ग्रहों की शान्ति आदि के निमित्त जो दान दिये जाते हैं वे नैमित्तिक दान हैं।

तीसरा दान काम्य दान है, संतान की कामना से, विजय की कामना से, ऐश्वर्य की कामना से, अथवा स्वर्ग की कामना से जो दान दिये जाते हैं, वे काम्य दान कहलाते हैं।

चौथा दान विमल दान है। जो किसी निमित्त से नहीं, किसी कामना से नहीं, केवल ईश्वर प्रीत्यर्थ ब्रह्मवेत्ता को निष्काम भाव से–सात्विक वृत्ति से भक्ति पूर्वक दिया जाय वह विमल दान है। नित्य, नैमित्तिक और काम्यदान तो पुण्यलोकों को प्रदान करते हैं। विमल दान मुक्ति का कारण है। इस प्रकार यज्ञ, अध्ययन और दान ये धर्म के प्रथम स्कन्ध हैं। धर्म का दूसरा स्कन्ध है–तप।

शौनकजी ने कहा—"तप का तात्पर्य क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"तप शब्द तप धातु से बना है, जो उप-संताप अर्थ में प्रयुक्त होती है। शरीर को जो शास्त्रीय विधि के अनुसार तपाया जाय. या जिस क्रिया से शरीर तपे उसे तप या तपस्या कहते हैं (तपति अथवा तापयति=इति-तपः) क्लेश जनक विधि विहित कर्म। तप से ऐसा कौन-सा कार्य है जो सिद्ध न हो सकता हो। तप से पापों का नाश, यश, ज्ञान, विज्ञान,

सौभाग्य, रूप तथा स्वर्गादि पुण्यलोकों की प्राप्ति होती है। अतः तप धर्म का दूसरा स्कन्ध है। धर्म का तीसरा स्कन्ध है ब्रह्मचर्य का पालन। ब्रह्मचर्य व्रत का विधिवत् आजीवन पालन करने वाला नैष्ठिक ब्रह्मचारी अपने आचार्य के कुल में वास करके व्रत, उपवास तथा सेवा सम्बन्धी कर्मों द्वारा अपने शरीर को सुखा देता है। अत्यन्त क्षीण कर देता है। वह नैष्ठिक ब्रह्मचर्यव्रत धर्म का तीसरा स्कन्ध है। ये सभी पुण्य कर्म यश, श्री तथा पुण्य लोकों को प्राप्ति इन धर्म के तीनों स्कन्धों द्वारा ही हो सकती हैं। जो ब्रह्म में सब प्रकार से स्थित हो चुका है, ऐसा स्थितप्रज्ञ पुरुष ही अमृतत्व अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। संसार के जितने भी कार्य हैं, सब तप से ही होते हैं। ब्रह्माजी ने तप द्वारा ही इस सृष्टि को उत्पन्न किया है।

शौनकजी ने पूछा—"तप द्वारा जगत् को ब्रह्माजी ने कैसे रचा ?"

सूतजी ने कहा—"कमल पर बैठे ब्रह्माजी को सृष्टि के आदि में त—और प ये ही दो शब्द सुनायी दिये। अतः उन्होंने सहस्रों वर्ष पर्यन्त तप किया, ध्यान किया। उसी तप के प्रभाव से यह सृष्टि उत्पन्न हुई।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! तप द्वारा ब्रह्माजी ने कैसे त्रयीविद्या, तीन व्याहृति तथा त्र्यक्षर रूप प्रणव की उत्पत्ति की इस प्रसंग को मैं आप से आगे कहूँगा।"

छप्पय—*यज्ञ, दान, अध्येन, तपस्या ब्रह्मचर्य व्रत।*
पुण्यलोक पहुँचाइ देत जो करै यथावत॥
ब्रह्म माहिँ थित होइ अमृत वह मानव पावै।
सब द्वंदनि निरमुक्त मुक्त जग तैं है जावै॥
करी तपस्या प्रजापति, ध्यान धर्यो लोकनि निमित।
भये लोक अभितप्त तिनि, त्रियि विद्या उतपत्ति इत॥

ओंकार की सर्वरूपता

[१३२]

तान्यभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्य ॐ कारः संप्रास्रवत्तद् यथा शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि संतृण्णान्येवमोङ्कारेण सर्वा वाक् संतृण्णोङ्कार एवेदँ सर्वमोङ्कार एवेदँ सर्वम् ॥*

(छा० उ० २ अ० २३ खं० ३ म०)

छप्पय

त्रयि विद्या अभितप्त भई व्याहृति अति व्यापक ।
भू भुव स्वः ये तीनि तीनि लोकनि की प्रापक ॥
फेरि प्रजापति करीं तीनि व्याहृति आलोचन ।
आलोचित जो शब्द तिनहिँ तैं प्रणव भये पुनि ॥
पत्र नसनितैं व्याप्त जिमि, त्यों सब जग ओंकार तैं ।
सबरी वाणी व्याप्त है, ओङ्कार की शक्ति तैं ॥

---

* उन तीनों व्याहृतियों के अक्षरों का प्रजापति ने आलोचन किया, उन्ही के आलोचित अक्षरों द्वारा ओङ्कार की उत्पत्ति हुई । पीपर आदि के पत्ते जैसे शङ्कुओं-नसो से व्याप्त रहते हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण वाणी ओंकार से है । ओंकार ही सब कुछ है, ओंकार ही सब कुछ है ।

यह जगत् तप द्वारा ही उत्पन्न हुआ है और तप में ही स्थित है। समस्त साधनों का सार तप ही है। श्रीमद्भागवत में इस विषय का विषद रूप से वर्णन किया गया है। भगवान् की नाभि से एक कमल उत्पन्न हुआ। उस कमल से समस्त प्रजा के पति लोक पितामह ब्रह्माजी की उत्पत्ति हुई। ब्रह्माजी कमल पर बैठकर विचार करने लगे। चारों ओर देखने की इच्छा हुई, तब उनके चारो दिशाओं में चार मुख उत्पन्न हो गये। चतुर्मुख ब्रह्मा कमल पर बैठकर सोचने लगे—यह कमल कहाँ से उत्पन्न हुआ है, इसका आदि अन्त का पता लगाना चाहिये। अतः वे कमल नाल में घुसकर सहस्रों वर्ष पर्यन्त उसका उद्गम खोजते रहे, किन्तु वह तो अनादि अनन्त था, तब थककर पुनः ब्रह्माजी कमल पर आ बैठे। सोचने लगे – मेरी उत्पत्ति सृष्टि करने के निमित्त हुई है, अब मैं सृष्टि कैसे करूँ। कोई साज नहीं सामान नहीं। जब ब्रह्माजी इसी चिन्ता में निमग्न थे, तभी उन्हे न जाने कहाँ से दो शब्द सुनायी दिये। एक तो व्यञ्जनों का सोलहवाँ अक्षर 'त' था और दूसरा व्यञ्जनों का इक्कीसवाँ अक्षर था 'प'। दोनों मिलकर 'तप' वाक्य बना। यह तप शब्द दो बार सुनायी दिया, तप तप। अर्थात् तपस्या करो। इस तप के कारण ही ज्ञानी ब्राह्मणों को तपोधन कहते हैं। अर्थ के लिये जो धन शब्द का प्रयोग किया जाता है यह तो असत्य है। अर्थ तो अनर्थ का कारण है। अर्थ के साथ तो पन्द्रह दोष लगे रहते हैं। वास्तविक धन तो तप ही है। ब्रह्माजी सोचने लगे—"यह तप-तप कौन कह रहा है, ये चारों ओर कहने वाले को खोजने लगे, किन्तु उन्हें कोई दिखायी नहीं दिया। तब वे सोचने लगे–"उन अचिन्त्य महिमा वाले आदि प्रभु ने मुझे तप करने का आदेश दिया है, अतः मुझे तप करना चाहिये।" यह सोचकर उन्होंने उस कमल पर ही बैठे-बैठे सहस्र

दिव्य वर्षों तक तप किया। ब्रह्माजी के सदृश तप कौन कर सकता है ? वे सबसे बड़े तपस्वी हैं। वे अमोघ ज्ञान हैं। उनकी तपस्या ध्यानमय है, ज्ञानमय है। तपस्या के द्वारा वे समस्त लोकों को प्रकाशित करने में समर्थ हो गये। उनके ध्यानरूप तप का परिणाम यह हुआ कि ६ नीचे के लोकों सहित भूलोक, अन्तरिक्ष लोक और पाँच स्वर्ग लोकों को प्रकाशित करने में समर्थ हो गये जब तीनों लोकों से उन्होंने तीन व्याहृतियों की उत्पत्ति की, तदनन्तर प्रणव की।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! पुण्यलोकों की प्राप्ति का साधन बताकर अब अमृतत्व प्राप्ति का–मोक्ष की प्राप्ति का साधन बताते हुए भगवती श्रुति कहती है—तप ही समस्त साधनों का सार है। शुद्ध तत्त्व की प्राप्ति तप से ही होती है।"

शौनकजी ने पूछा "सूतजी ! तप से सार वस्तु की प्राप्ति कैसे होती है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! जो वस्तु उत्पन्न होती है, वह समल ही होती है। मल के बिना उत्पत्ति संभव ही नहीं। उत्पन्न होने पर तप के द्वारा उसमें से मल पृथक् करके उसे निर्मल, सारभूत बनाया जाता है। जैसे खान से जो सोना उत्पन्न होता है, वह मल सहित ही होता है। फिर अग्नि द्वारा उसे तपाकर उसके मल को पृथक् किया जाता है। निर्मल–सारभूत–रह जाने पर तब उससे दिव्य आभूषण बनाये जाते हैं। तप द्वारा ही वह शुद्ध किया जाता है।"

ईख में से जो रस निकलता है, वह समल होता है। अग्नि में तपाकर उसमें से मल निकालकर उससे गुड़ बनाते हैं। फिर गुड़ को तपाकर उसके मल को पृथक् करके खाँड़ बनाते हैं। खाँड़ को तपाकर उसका मल निकालकर बूरा बनाते हैं। बूरे को

तपाकर उसे निर्मल बनाकर उससे स्वच्छ निर्मल सारभूत मिश्री बनती है। मिश्री समस्त मधुर वस्तुओं का सार है, स्वच्छ है—निर्मल है। वह निर्मलता तपाने से—तप के कारण—ही हुई। इसी प्रकार ब्रह्माजी ने तप द्वारा लोकों का ज्ञान प्राप्त किया, फिर उस ज्ञान को तपाया। परमात्मा का ज्ञान ही तप है। जब ब्रह्माजी को लोकों का ज्ञान हो गया, तो उन लोकों को पुनः अभितप्त किया—तपाया। तो उनके सारभूत ऋक्, यजु और साम इस त्रयीविद्या की उत्पत्ति हुई। फिर इस त्रयीविद्या को भी ज्ञानमय तप से पुनः तपाया तो उन तीनों का सार तीनों व्याहृतियों के रूप में प्रकट हुआ। अर्थात् तीनों वेद का सार भू, भुव और स्व ये तीन व्याहृतियाँ हैं। ये ऋक्, यजु और साम की सारभूता हैं। तीनों वेदों को तपाकर उनका निर्मल रूप व्याहृतियाँ हैं।

ब्रह्माजी ने इन तीनों व्याहृतियों को फिर से तपाया। उनके सारभूत अकार, उकार तथा मकार रूप ओंकार-प्रणव-की उत्पत्ति हुई। यह ओंकार ही सम्पूर्ण वाक् में व्याप्त है। जैसे आप पीपल के पत्ते को ले लीजिये। उसे ध्यान से देखिये, उसमें छोटी बड़ी समस्त नसें-ही-नसें व्याप्त हैं। यदि उन नसों को निकाल दो, तो पत्ते का अस्तित्त्व ही समाप्त हो जायगा। उन नसों के अस्तित्त्व से ही पत्ते का अस्तित्त्व है। इसी प्रकार सम्पूर्ण वाणी अ, उ और म के सम्मिश्रण से बने प्रणव द्वारा व्याप्त है। यह जो दृश्य प्रपञ्च है, यह ओंकार के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। जो भी कुछ दृश्य है, श्रव्य है, मननीय है वह सब-का-सब ओंकार ही है। ओंकार ही सर्व है, ओंकार ही सर्व है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यह मैंने ओंकार की सर्वरूपता का वर्णन किया। ओंकार उपासना से ही अमृतत्व की प्राप्ति हो सकती है। ओंकार ही मुक्तिपद को प्राप्त कराने वाला है। अब

आगे साम सम्बन्धी सवनों का होम, मन्त्र तथा उत्थानों का जैसे वर्णन करेंगे। उस प्रसंग को आगे कहूँगा।"

छप्पय

जाको करि उच्चार प्राण ऊपर कूँ जावैं।
ताही तैं ये तीन प्रणव अक्षर कहलावैं॥
है अकार ऋक् सार उकारहु यजुः सार है।
है सामहु को सार, मकारहि ब्रह्म तार है॥
ओंकार ही सर्व है, सर्व कह्यो ओंकार है।
सवन तीनि वरनन करूँ, साम होम को सार है॥

साम सम्बन्धी सवनों के अधिकारी देव

[१३३]

ब्रह्मवादिनो वदन्ति यद्वसूनां प्रातःसवनँ रुद्राणां माध्यन्दिनँ सवनमादित्यानां च विश्वेषां च देवानां तृतीयसवनम् ॥*॥

(छा० उ० २ प्र० २४ ख० १ मं०)

छप्पय

वसुअनि को है प्रात सवन रुद्रनि मध्यन्दिन।
तीसर साय सवन विश्वदेवनि आदित्यान॥
कहाँ लोक-यजमान? अज्ञ कस करै यज्ञवर।
पुण्यलोक पहिचान यज्ञ फल पावै नर-वर॥
कहैं ब्रह्मवादी सकल, पूर्व प्रात अनुवाक तैं।
गार्हपत्य रहि पृष्ठ में, उत्तर मुख वसु गान तैं॥

शुभ कर्मों के द्वारा पापों का नाश होकर अन्तःकरण शुद्ध होता है। शुद्ध अन्तःकरण से ही उपासना सम्भव है। समस्त कर्मों में यज्ञ कर्म ही सर्वश्रेष्ठ है, यज्ञ के निमित्त जो कर्म किया

---

* ब्रह्म वादियों का ऐसा मत है, कि प्रातः सवन वसु देवताओं का है, मध्याह्न सवन रुद्रों का है और तृतीय सायं सवन द्वादशादित्यों का तथा विश्वेदेवों का कहा गया है।

जाता है, वास्तव में वही तो कर्म है, शेष समस्त कर्म बन्धन के कारण हैं। यज्ञ वही फल देने वाला होता है जो विधि सहित किया गया हो। सात्त्विक, राजसिक और तामसिक यज्ञ तीन प्रकार के होते हैं। सात्त्विक यज्ञ तो वे होते हैं जो शास्त्रीय विधि से किये गये हों, कर्त्तव्य बुद्धि से, फल की इच्छा न रखते हुए मन को समाधान करके, निष्काम भाव से किये गये हों। राजस् यज्ञ वे कहलाते हैं, जो फल को आगे रखकर फल प्राप्ति की इच्छा से किये गये हों या दम्भ के लिये किये गये हों। तथा तामस यज्ञ वे होते हैं, जो शास्त्रीय विधि से हीन हों, जिनमें केवल स्वाहा-स्वाहा ही विधि विधान हीन हुई हो, अन्न का दान जो यज्ञ का मुख्य अंग है उससे वर्जित हो, जिसमें दक्षिणा भी उचित न दी गयी हो, मन्त्रों से तथा श्रद्धा से रहित हो।

यज्ञ विधि प्रधान होते हैं। यज्ञों में शास्त्रीय विधि का विशेष रूप से ध्यान रखा जाता है। यद्यपि उपनिषद् ज्ञान प्रधान हैं, तथापि यज्ञ का प्रकरण आने पर उसमें यज्ञ सम्बन्धी विधियों का भी स्थान-स्थान पर उल्लेख है। यज्ञों में तीन सवन होते हैं। प्रातः सवन, मध्यान्दिन सवन और सायं सवन। सव शब्द का अर्थ है यज्ञ (शूयते सोमः अत्र=इति=सवः) और सवन कहते हैं यज्ञ सम्बन्धी कृत्यों को। यज्ञ सम्बन्धी स्नान, सोमपान, यज्ञफल इन अर्थों में भी सवन का प्रयोग होता है। किन्तु जहाँ सवन के साथ प्रात, मध्याह्न तथा सायं लगा रहेगा वहाँ अर्थ होगा—यज्ञ सम्बन्धी प्रातः कृत्य, मध्याह्न तथा सायं कृत्य। सभी सवनों के देवता भी पृथक्-पृथक् होते हैं। अतः सवनों का ज्ञान, होम कैसे करना चाहिये, किस समय, कौन-से देवता के किस मन्त्र को कैसे बोलना चाहिये, उत्थान कैसे करना चाहिये। यज्ञ संबंधी इन कृत्यों के सम्बन्ध में उपदेश करती हुई भगवती श्रुति सर्व,

प्रथम किस सवन के कौन-से देवता अधिकारी हैं, इसका उपदेश करती हुई बताती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब यज्ञ सम्बन्धी सवनों के सम्बन्ध में जो ब्रह्मवादी वेदपाठी मुनियों का मत है, उसे बताते हैं। प्रातः सवन वसु देवताओं का है। वसु आठ देवताओं के गण का नाम है। उन आठ वसुओं के नाम १. धर, २. ध्रुव, ३. अह, ४. अनिल, ५. अनल, ६. प्रत्यूप, ७. सोम और ८. प्रभास हैं। इन आठ वसुओं का विवाह दक्ष की साठ कन्याओं के साथ हुआ। ये ही आठों वसु वसिष्ठ ऋषि के शाप से गंगा के गर्भ से पृथ्वी पर उत्पन्न हुए थे। उनमें से गांगेय भीष्म पितामह भी अष्ट वसु में से एक थे।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! महामुनि वसिष्ठ ने वसुओं को मनुष्य लोक में जन्म लेने का शाप किस आधार पर दिया?"

सूतजी ने कहा हैं—"मुनियो! यह बहुत बड़ी कथा है, इसे यहाँ यज्ञ सम्बन्धी विधियों में सुनाना अप्रासंगिक है, फिर भी जब आपने पूछा ही है तो बहुत ही संक्षेप में मैं इस कथा को आपके लिये सुनाता हूँ—

एक बार आठों वसु अपनी पत्नियों के साथ घूमते फिरते भगवान् वसिष्ठ के आश्रम पर पहुँचे। ऋषि के आश्रम में काम-धेनु की पुत्री नन्दिनी गौ बछड़े के सहित बँधी थी। नन्दिनी गौ अत्यन्त ही सुन्दरी परम तेजस्विनी थी। उसे देखकर आठों वसुओं में से जो द्यौ नामक वसु थे उनकी पत्नी ने अपने पति से पूछा—"प्राणनाथ! यह इतनी उत्तम सुन्दरी तेजस्विनी गौ किसकी है?"

द्यौ ने कहा—"यह महर्षि वसिष्ठ की गौ है।"

वसु पत्नी ने कहा—"बड़ी ही सुन्दरी गौ है, इसे तो देखते ही रहने का चित्त चाहता है।"

द्यौ ने कहा—"यह केवल सुन्दर ही नहीं है इसके दुग्ध में एक विशेषता है। जो भी कोई पुरुष या स्त्री इसके दूध को पी लेता है, उसकी दश सहस्र वर्ष की आयु होती है। और उसकी युवावस्था कभी नष्ट नहीं होती। दश सहस्र वर्षों तक वह युवावस्थापन्न बना रहता है।

यह सुनकर द्यौ वसु की स्त्री ने कहा—"प्राणनाथ ! मर्त्यलोक में मेरी एक सखी है। वह महाराजा उशीनर की पुत्री है, बड़ी ही सुन्दरी है। उसके निमित्त चुपके से इस गौ को खोल ले चलो। वह इसका दूध पीकर मनुष्य लोक में एक ही ऐसी ललना रत्न हो जायगी जो वृद्धावस्था तथा रोगों से रहित होकर दश सहस्र वर्ष तक युवती हो बनी रहेगी।"

अपनी स्त्री को प्रसन्न करने के लिये द्यौ वसु ने अन्य वसुओं से सम्मति करके नन्दिनी को चुरा लिया। उस समय महामुनि वसिष्ठ आश्रम में नहीं थे। आश्रम में आकर महामुनि ने देखा गौ नहीं है। वे बड़े चिन्तित हुए। वन में अन्य आश्रम में उन्होंने गौ को बहुत ढूँढ़ा, किन्तु गौ का कहीं पता ही न चला। जब उन्होंने ध्यान में देखा, तो पता चला नन्दिना को तो वसु चुरा ले गये। इससे मुनि बड़े क्रुद्ध हुए। उन्होंने शाप देते हुए कहा—"देवगण होते हुए भी वसुओं ने मर्त्य धर्मी मानुषों जैसा निन्द्यकर्म किया है अतः वसुओं का मर्त्यलोक में मानव शरीर में जन्म लेना पड़े।"

मुनि के शाप की बात सुनकर समस्त वसुगण अत्यन्त दुखित हुए। वे अत्यन्त दुखी होकर दीन भाव से महामुनि की शरण में आये। उन्होंने स्तुति प्रणामादि द्वारा मुनि को प्रसन्न करना चाहा और बड़ी दीनता से अपने अपराध के लिये क्षमा याचना की।

वसुओं को अत्यन्त दुखी तथा दीन देखकर मुनि को दया आ गयी। उन्होंने वसुओं से कहा—"वसुगण ! मैंने कभी असत्य भाषण नहीं किया, अतः तुम्हें मनुष्य शरीर में तो जाना ही पड़ेगा, किन्तु तुम जन्म लेते ही तुरन्त मानव शरीर को छोड़कर अपने वसु रूप में आ जाओगे, किन्तु जिस द्यौ वसु ने गौ चुराई है, उसे तो चिरकाल तक मनुष्य योनि में रहना ही पड़ेगा।"

यह सुनकर वे सब वसु बड़े चिन्तित हुए। हम देवता होकर मर्त्यधर्मा स्त्री के गर्भ में कैसे जायँगे। वे इस प्रकार की चिन्ता में मग्न ही थे, कि उन्होंने मार्ग में जाते हुए सरित् प्रवरा भगवती गंगा देवी को देखा। गंगाजी को देखकर उन सबने उन्हें प्रणाम किया, और हाथ जोड़कर कहने लगे—"देवि ! वसिष्ठ महर्षि ने हमें मनुष्य शरीर में जाने का शाप दिया है। हम सुधा पान करने वाले देवता होकर मनुष्य शरीर में मानुषी माता के गर्भ से कैसे पैदा हो सकते हैं ? कृपा करके आप मानुष्य शरीर धारण करके राजर्षि शान्तनु की पत्नी हूजिये। हम आपके ही गर्भ से उत्पन्न होंगे। आप हमे उत्पन्न होते ही अपने जल में फेंक दिया करना।"

वसुओं की प्रार्थना सुनकर गंगा माता को दया आ गयी। उन्होंने इसे स्वीकार कर लिया। इसीलिये वे मनुष्य शरीर से शान्तनु की पत्नी हुईं। सात पुत्रों को तो उन्होंने उत्पन्न होते ही अपने जल में फेंक दिया, जिससे वे पुनः वसु शरीर को प्राप्त हो गये। आठवाँ द्यौ जब उत्पन्न हुआ तो राजा ने उसे नहीं फेंकने दिया। वे ही द्यौ वसु के अवतार कुरुकुल तिलक ऊर्ध्वरेता बाल ब्रह्मचारी भीष्मपितामह हुए।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! इस प्रकार वसिष्ठ मुनि के शाप से देवता होने पर भी वसुओं को कुछ काल ही मानुषी

योनि में रहना पड़ा। इन वसुगण देवताओं का प्रातःसवन है।"

मध्याह्न सवन रुद्रों का है। रुद्र एकादश माने जाते हैं, उनके नाम ये हैं १. अज, २. एकपात्, ३. अहिर्बुध्न, ४. पिणाकि, ५. अपराजित, ६. त्र्यंबक, ७. महेश्वर, ८. वृषाकपि, ९. शम्भु, १०. हरण, और ११. ईश्वर कल्प भेद से भिन्न-भिन्न स्थनों में एकादश रुद्रों के भिन्न-भिन्न नाम भी मिलते हैं।

तृतीय जो सायंसवन है, वह आदित्य और विश्वेदेवा वसुओं का सवन है। उस सवन के अधिष्ठातृ देव आदित्य और विश्वेदेवा हैं। आदित्य बारह हैं। उनके नाम १. विवस्वान, २. अर्यमा, ३ पूषा, ४. त्वष्टा, ५. सविता, ६. भग, ७. धाता, ८. विधाता, ९. वरुण, १०. मित्र, ११. शुक्र और १२. उरुक्रम ये सब प्रजापति भगवान कश्यप से अदिति नामक पत्नी में उत्पन्न हुए। ये द्वादशादित्य कहलाते हैं। इसी प्रकार विश्वदेवा भी देवताओं के एक गण हैं। ये दश हैं। इनके नाम १. क्रतु, २. दक्ष, ३. श्रव, ४. सत्य, ५. काल, ६. काम, ७. धुनि, ८. कुरुवान, ९. प्रभवान्, १०. रोचमान हैं। ये विश्वेदेवा धर्म के पुत्र हैं। दक्ष ने अपनी साठ कन्याओं में से १० धर्म को दी थीं। उन दश में से एक विश्वा नाम की धर्म की पत्नी थी। उसी से धर्म के ये विश्वदेवा नामक पुत्र हुए। आदित्य और विश्वेदेवाओ का सायं सवन है।

इस प्रकार तीन सवनों के देवताओं को कहकर अब यजमान के लोक के सम्बन्ध में पर्यालोचन करते हैं। जैसे तीन सवनों के तीन देव हैं वैसे ही तीनों सवनों की तीन विशेष छंदें भी हैं। प्रातः सवन को प्रायः गायत्री छंद वहन करती है। अर्थात् प्रातःसवन के मंत्र प्रायः गायत्री छन्द प्रधान होते हैं। मध्याह्न सवन को त्रिष्टुप तथा सायं सवन को जगती छन्द वहन करती हैं। अब प्रश्न यह

उठता है, कि यज्ञ का जो यजमान है उसका कौन-सा लोक है। किस लोक की प्राप्ति के लिये वह यज्ञ करता है। लोक तीन ही है। भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्गलोक अथवा पुण्यलोक। भूलोक वसुओं का लोक है, अन्तरिक्षलोक रुद्रदेवों का लोक है और स्वर्लोक आदित्यों का लोक है, तब यजमान का लोक कौन-सा रहा ? श्रुति कहती है लोकों की प्राप्ति के ही हेतु यजन किया जाता है, वे लोक कौन-से हैं। जिस यजमान को अपने प्राप्यलोकका ज्ञान नहीं, वह भला हवन कैसे कर सकता है ? वह किस निमित्त से यज्ञानुष्ठान करेगा ? इसलिये यजमान को इन बातों का ज्ञान परमावश्यक है। हम जो प्रातः सवन, मध्यन्दिन सवन और सायं सवनों में होम करके साम गायन करते हैं। उन मन्त्रों के देवता कौन हैं, किन मन्त्रों से उनकी स्तुति की जाती है। उत्थानादि के लक्षण क्या हैं। इसी को बताने के लिये आगे का प्रकरण आरंभ करते हैं।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! अब तीनों सवनों में किस प्रकार हवन करना चाहिये। कहाँ बैठकर किधर मुख करके किस सवन में किस देवता को, किस साम के मंत्र से स्तुति करनी चाहिये। इसका वर्णन आगे किया जायगा।

छप्पय

गाइ प्रातरनुवाक पूर्व वासव इस्तोत्रनि।
करें अग्नि तैं विनय साम गायन के मंत्रनि॥
उत्तर मुख करि बैठि वसुनि मन्त्रनि कूँ गावै।
ऋक् अगान है शस्त्र प्रातरनुवाक कहावै॥
अग्नि राज्यहित लोक के, द्वार खोलि दें दरस हू।
नमो अग्नि कहि हवन करि, प्राप्त करावें लोक भू॥

प्रातः सवन सम्वन्धी सामगान

[१३४]

पुराप्रातरनुवाकस्योपाकरणाज्जघनेन गार्हपत्यस्योदङ्मुख उपविश्य स वासव ँ सामाभिगायति ॥*

(छां० उ० २ प्र० २४ ख० ३ मं०)

छप्पय

आयु शेष मम होइ पुण्य लोकनि कूँ पाऊँ ।
स्वाहा कहिकें हवन करै अर्गला नसाऊँ ॥
फेरि करै उत्थान देइँ वसु प्रात सवनकूँ ।
उत्तर मुख दक्षिणाग्नि पृष्ठ मध्याह्न सवनकूँ ॥
साम गान करि रुद्र को, करै वायु तैं प्रार्थना ।
अन्तरिक्ष खोलो तुरत, द्वार करैं हम दर्शना ॥

वैदिककाल में यज्ञ ही धर्म का प्रधान साधन माना जाता था वेदों में यज्ञों का ही विस्तार है। ऋक्, यजु और साम तीनों में ही यज्ञ सम्वन्धी कर्मकाण्ड का विस्तार है। पहिले प्रत्येक ब्रह्मचारी को उपनयन के पश्चात् नित्य नियम से अग्नि में समिधा धान करना पड़ता था। ब्रह्मचर्यव्रत समाप्त करके जब गृहस्थ में प्रविष्ट

---

* यजमान प्रातरनुवाक प्रारम्भ करने के पहिले गार्हपत्याग्नि के पीछे उत्तर की ओर मुख करके वैठकर वसु सम्वन्धी जो सामवेद का प्रातः सवनीय गान है, उसे गावें ।

होना था, तो उसे अग्निहोत्र की दीक्षा लेनी पड़ती थी, जब तक सन्ध्या हवनादि पंचयज्ञ न करले, तब तक गृहस्थ भोजन नहीं करता था। यज्ञ करने वाला जो गृहस्थ यजमान है, उसे तीन कुण्डों में तीन प्रकार की अग्नि रखनी पड़ती थी। यजमान की अपनी अग्नि एक कुण्ड में रहती थी उसे गार्हपत्याग्नि कहते थे। गृहपति–यजमान का नाम है। उससे जो संयुक्त अग्नि है वही गार्हपत्याग्नि है (गृहपतिः=यजमानः तेन संयुक्ताग्निः गार्हपत्याग्निः) इस अग्नि से गृहपति का गृहस्थ का नित्य सम्बन्ध होता है। जब तक अग्नि परिचर्या–अग्निहोत्र न कर लें, तब तक गृहपति यजमान दूसरे कार्य कर ही नहीं सकता। उस गार्हपत्याग्नि वाले कुण्ड से दक्षिण दिशा में एक दूसरा कुण्ड रहता है, उसमें जो अग्नि रहती है, इसे अनुकूल अग्नि भी कहते हैं। एक तीसरे कुण्डों में जो अग्नि रहती है उसे आहवनीय अग्नि कहते हैं। गार्हपत्याग्नि कुण्ड से उठाकर होम के निमित्त जो अग्नि संस्कृत की जाती है, उसी अग्नि का नाम आहवनीय है (आहूयते आज्यादिः अस्मिन्)। इस प्रकार प्रचीन काल में सभी द्विजगण अग्निहोत्र करते थे। यज्ञ याग करना सबसे प्रतिष्ठा का–पुण्यलोकों को विजय करने का–सर्वोत्तम साधन समझा जाता था। यज्ञों के भी अनेक भेद हैं। जैसे श्रौत-अग्नि, स्मार्त अग्नि। श्रौताग्नि के सात कृत्य होते हैं। जैसे नित्य का अग्निहोत्र जिसे अग्न्याधान भी कहते हैं। (२) अमावास्या और पौर्णिमा के दिन विशेष हवन। अमावास्या को पितृयज्ञ और पूर्णिमा को देवयज्ञ जिन्हें दर्शपौर्णमास याग कहते हैं। (३) पिंड-दान–पितृयज्ञ, (४) नया अन्न आने पर अगहन में जो विशेष याग किया जाता है, उसे आग्रयण याग कहते हैं। (५) चातुर्मास्य यज्ञ। आषाढ़, श्रावण, भाद्र और आश्विन इन चार महीनों को

चातुर्मास्य कहते हैं जहाँ पक्ष को ही मास माना जाता है वहाँ श्रावण और भाद्र पद इन दो महीनों के चार पक्षों को चातुर्मास्य कहते हैं। इनमें जो विशेष यज्ञ किया जाता है उसे चातुर्मास्य याग कहते हैं। (६) निरूढ़ पशुबन्ध और (७) सौत्रामणि। ये सात कृत्य श्रौताग्नि के कृत्य हैं। निरूढ़ पशुबन्ध मे पशु आलमन किया जाता है और सौत्रामणि में सुराघ्राणादि का विधान है।

स्मार्ताग्नि से सात पाक यज्ञ किये जाते हैं। जैसे १. औपासन, २. वलिर्वैश्वदेव, ३. स्थालीपाक, ४. आग्रयणम्, ५. सर्पवलि, ६. ईशान वलि, ७. अष्टकान्यष्टका इनके अतिरिक्त विशिष्ट याग जो वैभवशाली पुरुष समय-समय पर किया करते थे। उनमें श्रौताग्नि की सप्त संस्थायें हैं। जैसे १. अग्निष्टोम याग इसे ही सोम याग कहते है। २. अत्यग्निष्टोम, ३. उक्थ्य, ४. पोडशी, ५. वाजपेय, (कुरु और ६. अतिरात्र दो भेदों वाला) ७. अप्तूर्य्याम।

इनके अतिरिक्त उत्तर क्रतु बड़े-बड़े महायज्ञ बहुत प्रकार के हैं। उन्हें कभी-कभी बड़े वैभवशाली राजा महाराजा ही किया करते थे। जिनमे १. महाव्रत याग २. सर्वतोमुख, ३. राजसूय यज्ञ, ४. पौण्डरीक याग, ५. अभिजित् याग, ६. विश्वजित् याग, ७. अश्वमेध याग, ८. बृहस्पतिसव यज्ञ ९. आङ्गिरस याग तथा अठारह प्रकार के चयन याग। इस प्रकार वेदों में यज्ञों की ही भरमार है और ये यज्ञ विधि प्रधान हुआ करते थे। विधि में तनिक-सी भी गड़बड़ी हो गयी तो सम्पूर्ण यज्ञ व्यर्थ हो जाता था। यज्ञों मे राक्षस भी आकर बहुत विघ्न किया करते थे। यज्ञों में तीनों वेदों के ज्ञाता ऋत्विज रहते थे। यज्ञों में प्रातःसवन ऋक् प्रधान होता है, यजुर्वेद मध्याह्न सवन मे और सामवेद सायं सवन में। ऐसा मत है सामवेद के श्रवण के अनन्तर वेदपाठ

प्रातःसवन में ऋक्वेद मन्त्रों की प्रधानता होती है। ऋक्वेद के मन्त्र दो प्रकार के होते हैं। एक तो वे जो गाये जाते हैं, दूसरे वे जो गाये नहीं जाते। जो गाये नहीं जाते उनको 'शास्त्र' कहते हैं। उनमें से जो बिना गायन वाले शास्त्र मन्त्र प्रातःकाल में प्रातःसवन में पाठ किये जाते हैं उन्हें 'प्रातरनुवाक' कहते हैं प्रातःसवन में इन अनुवाकों का पाठ प्रधान है। हमारी यह छांदोग्य उपनिषद् सामवेद की उपनिषद् है। अतः यह तीनों सवन में साम के किन मन्त्रों का गान करना चाहिये इसी को विस्तार से बताती है। पहिले प्रातः सवन में सामवेद के किन मंत्र का कब गायन करे, इसे बता रहे हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यज्ञ में प्रातःकाल ऋक्वेद के उन मन्त्रों का पाठ किया जाता है जो गाये नहीं जाते। उनको प्रातरनुवाक कहते हैं। यज्ञ का प्रातःकालीन कृत्य प्रातरनुवाकों से ही आरम्भ होता है। भगवती श्रुति आज्ञा देती है, प्रातःसवन में स्तुति सम्बन्धी संग्रहीत जो ऋक्वेद के मन्त्र हैं जिनका यज्ञ यागों में प्रातःकाल सर्वप्रथम पाठ होता है उन मन्त्रों के पूर्व यज्ञकर्ता यजमान साम का गायन कर ले। कैसे करे? उसकी जो अपनी गार्हपत्याग्नि है, उस कुण्ड के सम्मुख नहीं, पीछे बैठकर उत्तर की ओर मुख करके ऋत्विज् तब तक चाहें यज्ञशाला में आये हों न आये हो, स्वयं ही सोम सम्बन्धी मंत्रों का गायन करे। वसु अग्नि प्रधान देव हैं। अतः अग्निदेव से प्रार्थना करे—"हे अग्नि-देव! तुम पृथ्वी लोक में रहते हो, अतः मुझ यजमान के लिये पृथ्वी लोक का द्वार खोल दो, जिससे कि राज्य प्राप्ति के निमित्त हम तुम्हारा दर्शन कर सकें।" सस्वर वसु सम्बन्धी मन्त्र का गायन करे।*

---

* लो ३ का द्वारमपावाः ३ र्णू ३ ३ पश्येम त्वा वय ॅ रा ३ ३ ३ ३ ३ ह्र ३ म् मा ३ ३ ज्या ३ यो ३ मा ३ २ १ १ १ इति ॥४॥

इस प्रकार अग्नि की स्तुति करके यजमान स्वयं इस मन्त्र को पढ़कर हवन करे। मन्त्र का भाव यह है—अग्निदेव मैं आपको नमस्कार करता हूँ, आप पृथ्वी लोक में रहने वाले हैं। मुझ यजमान को आप अपने इस पृथ्वी लोक को प्राप्त कराओ। (पृथ्वी लोक में तो हैं ही, अभिप्राय यही है कि पृथ्वीलोक में मैं धन, सम्पत्ति, वैभव कीर्तियुक्त होकर रहूँ) जब मेरी आयु समाप्त हो जाय, तो इस लोक से जाकर स्वर्गादि पुण्य लोकों को प्राप्त होऊँ।"

ऐसा कहकर हवन करे। फिर कहे–(अपजहि परिघम्) यह जो बीच में अर्गला है अड़ंगा लगा हुआ है इसे खोल दो। ऐसी प्रार्थना करते हुए उत्थान करता है। खड़े होकर अग्नि को नमस्कार करके हवि देकर वहाँ से जाता है तो वसुगण प्रसन्न होकर उसे प्रातःसवन का फल प्रदान करते हैं। अर्थात् पृथ्वीलोक की सर्व-समृद्धि यजमान को प्रदान करते हैं।

सूतजी कह रहे हैं – "मुनियो ! यागों में यही सामगान संबन्धी प्रातःसवन की पद्धति है। अब मध्याह्न सवन में रुद्र देवताओं के सम्बन्धी साम का गान कैसे करना चाहिये इसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

वायुदेव ! वैराज्य पदहिँ तुम प्राप्त कराओ।
दया दीन पै करो दयालो ! दरस दिखाओ॥
तदनन्तर करि हवन मन्त्र पढ़ि करै प्रार्थना।
अन्तरिक्ष में रहो प्राण के अधिप बहुगुना॥
वायुदेव कूँ नमन है, निज सिर तव चरननि धरूँ।
अन्तरिक्ष की प्राप्ति हित, बार-बार बन्दन करूँ॥

—:—:—

मध्यन्दिन सवन और सायं सवन सम्बन्धी सामगान

[१३५]

पुरा माध्यन्दिनस्य सवनस्योपाकरणाज्जघनेनाग्नीध्रीयस्योदङ्मुख उपविश्य स रौद्रँ सामाभिगायति ॥*॥

(छा० उ० २ प्र० २४ खं० ७ मं०)

छप्पय

मध्यन्दिन जो सवन रुद्र हैं दैवत ताके।
करै प्रार्थना वायुदेव हैं अधिप हु वाके॥
अन्तरिक्ष कूँ प्राप्त करूँ होमें स्वाहा करि।
करो अर्गला दूरि नमूँ सिर चरननि में धरि॥
फेरि करै उत्थान वह, इस्तुति होम अनन्तरहिँ।
देवैं मध्यन्दिन सवन, रुद्र सकल पूजित रहहिँ॥

तीनों सवनों में तीनों वेदों के स्तोत्रों की प्रधानता रहती है। प्रातःसवन में ऋक् सम्बन्धी स्तोत्र और मध्यन्दिन सवन में यजुर्वेद सम्बन्धी स्तोत्र और सायं सवन में साम सम्बन्धी स्तोत्रों

---

* यजमान जब तक मध्याह्न सवन का प्रारम्भ न हो, तभी दक्षिणाग्नि के पीछे रुद्र सम्बन्धी साम का गान उत्तराभिमुख होकर करे।

की प्रधानता रहती है। तीनों सवनों में यजमान द्वारा साम गायन करना चाहिये कब करना चाहिये ? जब तक सवनों के कार्य आरम्भ न हों। उसके पूर्व ही यजमान स्वयं जाकर वेदी के सम्मुख न बैठकर उसके पीछे बैठकर-उत्तराभिमुख होकर साम का गान कर ले। जो उस सवन के अधिष्ठातृदेव हों और वे जिस लोक में रहते हों, उस लोक की प्राप्ति की उनसे प्रार्थना करे। तीन सवन हैं, तीन ही अग्नि हैं, तीन ही लोक हैं और तीन ही उनके देव हैं। अतः प्रातःसवन में गार्हपत्य अग्नि के कुण्ड के पीछे से वसु देवताओं की जो भूलोक में अग्नि रूप से रहते हैं उनसे भूलोक में राज्य की प्राप्ति के लिये प्रार्थना करे। मध्यन्दिन सवन में दक्षिणाग्नि के पीछे रुद्रदेवों से जो अन्तरिक्ष निवासी हैं उनसे वैराज्य पद प्राप्ति को प्रार्थना करे और सायं सवन में आहवनीय अग्नि के कुण्ड के पीछे बैठकर आदित्य और विश्वेदेवताओं से जो स्वर्ग में निवास करते हैं उनसे स्वर्ग और साम्राज्य पद की प्राप्ति के निमित्त प्रार्थना करे। यह सवनों के कृत्यों से अतिरिक्त विशेष साम सम्बन्धी प्रार्थनायें हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! प्रातःसवन के अनन्तर अब मध्यन्दिन सवन तथा सायं सवन सम्बन्धी साम गानों का वर्णन करते हैं। मध्यन्दिन सवन का कृत्य जब तक विधिवत् आरम्भ भी न हो उसके पूर्व ही स्वयं यजमान जाकर जिस कुण्ड में दक्षिणाग्नि है उस कुण्ड के पीछे बैठकर उत्तराभिमुख होकर मध्याह्न सवन के जो रुद्र देवता हैं, उनके सम्बन्ध के मन्त्र का गायन करे। उसका भाव यह है। हे रुद्रदेव ! आप वायु रूप से अन्तरिक्ष में निवास करते हो। सो हे वायुदेव ! आप मुझ यजमान के लिये अन्तरिक्ष का द्वार खोल दो, जिस वैराज्य पद की प्राप्ति के

निमित्त हम आपका दर्शन कर सके।*

इस प्रकार प्रार्थना करने के अनन्तर यजमान इस मन्त्र से हवन करे—' अन्तरिक्ष निवासी तथा अन्तरिक्ष में रहने वाले वायु देव को नमस्कार है। मुझ यजमान को अपने लोक अन्तरिक्ष की प्राप्ति कराइये। यही अन्तरिक्ष लोक मुझ यजमान का लोक है, मैं ही इसे प्राप्त करने का अधिकारी हूँ।" मैं अपनी आयु समाप्त होने पर अन्तरिक्ष लोक को प्राप्त करूँगा। ऐसा संकल्प करके 'स्वाहा' कहकर हवन करे। फिर 'लोकद्वारकी अर्गला खोल दो।' ऐसा कहकर उत्थान करे। अर्थात् ऐसी प्रार्थना खड़े होकर करके वहाँ से चला जाय। तो रुद्र गण उसे मध्याह्न सवन प्रदान करते हैं। अर्थात् मृत्यु के पश्चात् अन्तरिक्ष लोक में वैराज्य पद की प्राप्ति होती है।

मध्याह्न सवन कहकर अब सायं सवन को कहते हैं। यह तीसरा सायं सवन है। जब तक यज्ञ मंडप में साय सवन का कृत्य आरम्भ न हो, उसके पूर्व ही यजमान जाकर आहवनीय अग्नि के कुण्ड के पीछे बैठकर उत्तराभिमुख होकर उस सवन के जो अधिष्ठातृदेव आदित्य और विश्वेदेवा हैं उनके सम्बन्ध वाला सामवेद का गायन करे। आदित्य और विश्वेदेवता स्वर्ग में रहते हैं। उनसे इस प्रकार प्रार्थना करे—"पहिले आदित्यों से प्रार्थना करे—हे आदित्यो! आप लोक का द्वार खोल दें। जिससे हम स्वाराज्य प्राप्ति के निमित्त आपका दर्शन कर सकें।" यह तो हुआ आदित्यों के सम्बन्ध का सामगायन। अब विश्वेदेवों का सामगान कहते हैं। विश्वेदेवों से यह प्रार्थना करे—"अपने लोक का द्वार खोल

* लो ३ क द्वारमपावा ३ र्णू ३३ पश्येम त्वा वय वैरा ३३३३३ हु ३ म् आ ३३ ज्या ३ यो ३ आ ३२१११ इति ॥८॥

दो, जिससे हम साम्राज्य प्राप्ति के हेतु आपका दर्शन कर सकें।*

इस प्रकार प्रार्थना करने के अनन्तर यजमान इस मंत्र द्वारा हवन करे "स्वर्ग लोक के निवासी स्वर्ग में ही रहने वाले आदित्यों और विश्वे देवताओं को नमस्कार है। मैं जो यजयान हूँ, मुझे पुण्य लोक की प्राप्ति कराइये।" यह जो आपका स्वर्ग है यह निश्चय ही यजमान का लोक है। मैं इसे प्राप्त करने का अधिकारी हूँ। ऐसा कहकर आयु की समाप्ति के अनन्तर मैं इस लोक को प्राप्त करूँगा। ऐसा कहकर 'स्वाहा' बोलकर हवन करे। फिर इतना कहकर उत्थान करे। 'लोक द्वार की अर्गला को खोल दो।' खड़े होकर ऐसी प्रार्थना करके चला जाय।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार मैंने आपसे यह तीसरा सायं सवन कहा। जो यजमान इस प्रकार साम मंत्रों से प्रार्थना करता है, उसको आदित्यगण तथा विश्वेदेवगण तृतीय सवन के फल को प्रदान करते हैं। वह यजमान ही यज्ञ के यथार्थ स्वरूप का ज्ञाता है जो इस प्रकार इस रहस्य को जानता है। इसे भली प्रकार जानने वाला ही यज्ञ की मात्रा का ज्ञाता है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यह मैंने साम सम्बन्धी तीनों सवनों की कथा कही यहाँ छान्दोग्य उपनिषद् का दूसरा अध्याय

---

* लो ३ क द्वारमपावा ३ र्णू ३३ पश्येम त्वा वयं स्वारा ३३३३३ हु ३ म् आ ३३३ ज्या ३ यो ३ आ ३२१११ इति।

अदित्यमथ वैश्वदेवं लो ३ क द्वारमपावा ३ र्णू ३३ पश्येम त्वा वयं साम्रा ३३३३३ हु ३ म् आ ३३ ज्या ३ यो ३ आ ३२१११: इति।

समाप्त हुआ। अब तृतीय अध्याय के प्रथम खंड में जैसे मधु विद्या का वर्णन होगा, उसे मैं आपसे आगे कहूँगा।"

छप्पय

तृतीय सवन के पूर्व पिछे आहवनीयाग्नी।
बैठे उत्तर ओर गाइ सामहिँ की बानी॥
आदित! विश्वेदेव!! लोक के द्वारनि खोलो।
स्वाराज्य हु साम्राज्य पाइँ घूँघट पट खोलो॥
नमस्कार अरु हवन करि, पुण्य लोक प्रापत करें।
लोक द्वार की अर्गला, खोलो, उत्थान हु करें॥
आदित विश्वे देव की, तृतिय सवन इस्तुति करें।
यज्ञ रूप जानत वही, गृहपति के सब अघ हरें॥

इति छांदोग्य उपनिषद् के द्वितीय अध्याय में
चौबीसवाँ खण्ड समाप्त।

द्वितीय अध्याय समाप्त।

—:—

मधुविद्या

(१३६)

ॐ असौ वा आदित्यो देवमधु तस्य द्यौरेव तिरश्चीनवꣳ शोऽन्तरिक्षमपूपो मरीचयः पुत्राः ॥*

(छां० उ० ३ अ० १ ख० १ मं०)

छप्पय

आदित्यहि मधु–देव बाँस तिरछो स्वर्गहि है ।
रवि किरण हिँ सुत छत्त अन्तरिक्षहि सो तिहि है ॥
रवि की पूरब किरन छिद्र हैं पूरब दिशि के ।
मधुकर ही हैं ऋचा वेदऋक् सुमन सरसके ॥
सोम अमृत ही कह्यो जल, ऋक् मधुकर अभिताप करि ।
तातैं इन्द्रिय, तेज, बल, अन्न आदि रस भये फिरि ॥

संसार की समस्त ओषधियाँ मधु प्रधान है। संसार में कटुता, क्षारता की अपेक्षा मधुरता अधिक है श्रीमद्भागवत के मतानुसार संसार में सात समुद्र और सात द्वीप हैं। ब्रह्माण्ड की कमल से उपमा दी है। कमल में एक बीच में कर्णिका होती है, उस कर्णिका के चारों ओर कमलदल (पंखुड़ियाँ) होती हैं। जम्बू

---

* यह आदित्य देवताओं का मधु है, द्युलोक ही तिरछा बाँस है, अन्तरिक्ष अपूप–मधु का छत्ता–है। मरीचें–सूर्य की किरणें–ही मधुमक्खियों के पुत्र हैं।

द्वीप को कमल की कर्णिका माना जाता है। जम्बूद्वीप में नौ वर्ष हैं। इलावृत तो बीच का वर्ष है। और आठ वर्ष उसकी आठों दिशाओं में है। इलावृत वर्ष में ही सुमेरु पर्वत है। वह दिव्य सुवर्णमय है। पहिले ये आठों वर्ष एक दूसरे से सम्बन्धित थे। जब सगर के साठ सहस्र पुत्रों ने चारों ओर से इसे खोदा तो भारतवर्ष के चारों ओर खायी बन गयी। सगर के पुत्रों द्वारा खोदी जाने से और खारे समुद्र से पानी भर जाने से इस खाई से भारतवर्ष शेष सात वर्षों से पृथक् हो गया। वह खाई सगर पुत्रों द्वारा खोदी जाने से 'सागर' के नाम से विख्यात हुई। जम्बूद्वीप के चारों ओर खारा समुद्र है। एक द्वीप के पश्चात् एक समुद्र है, फिर द्वीप और फिर समुद्र। इस प्रकार १. जम्बूद्वीप, २. सक्षद्वीप, ३. शाल्मली द्वीप, ४. कुशद्वीप, ५. क्रौञ्चद्वीप, ६. शाकद्वीप और ७. पुष्कार द्वीप ये तो सात द्वीप हैं। ये सब द्वीप जैसे किले के चारों ओर पानी से भरी खाई खुदी रहती है उसी प्रकार ये सात द्वीप सात समुद्रों से घिरे हुए हैं। उन समुद्रों के नाम १. क्षार समुद्र, २. इक्षुरस समुद्र, घृत समुद्र, ४. क्षीर समुद्र, ५. दधि मंड (तक्र) समुद्र, ६. सुरा समुद्र और ७. शुद्ध जल समुद्र हैं।

आप कहोगे, कि हमें तो खारे समुद्र के अतिरिक्त और कोई समुद्र दिखायी ही नहीं देता। जो वैज्ञानिक चन्द्रलोक तक की यात्रा कर आये हैं, उनमें से भी किसी ने इन ६ समुद्रों को नहीं देखा। इसका उत्तर शास्त्रों में यही दिया है, कि जम्बूद्वीप के अतिरिक्त मनुष्य शरीर से कोई अन्य द्वीपों में जा ही नहीं सकता। जम्बू द्वीप में भी नौ खण्ड या वर्ष हैं। उनमें से केवल भारतवर्ष में ही कर्म करने वाले शतायु पुरुष रहते हैं। शेष आठों वर्ष और छेऊ खंडों में भौम स्वर्ग के मानव रहते हैं। उनकी दश-दश सहस्र वर्ष की आयु होती है, इन आठ वर्षों में भी कर्म प्रधान

पुरुषों की पहुँच नहीं। जहाँ तक मनुष्य जा सकता है, और जहाँ तक खारा समुद्र है सब भारतवर्ष के ही अन्तर्गत है।

जब कोई मनुष्य इन खंड और द्वीपों में पहुँच ही नहीं सकता, तो हम कैसे जाने कि खारे समुद्र के अतिरिक्त भी १. ईख के रस का, २. मदिरा का, ३. घृत का, ४. दूध का, ५. मट्ठे का और शुद्ध जल का समुद्र है। इन समुद्रों के अस्तित्व को कैसे स्वीकार करें ? इसका उत्तर यही है, हमारे इस वर्ष में नमक के अतिरिक्त ईख, मदिरा, घृत, दही और शुद्ध जल भी विद्यमान है। हमें नमक कहाँ से मिलता है ? ओषधियों में जो क्षार अंश है, वह कहाँ से आता है ? आप कहेंगे, समुद्र के जल को सूर्यनारायण लाकर ओषधियों में वर्षा देते हैं, उसी से भूमि नमकीन हो जाती है, ओषधि उसी से उत्पन्न होती है, इसीलिये फलों में, ओषधियों में नमक आ जाता है।

इसी सिद्धान्त को हम अन्य समुद्रों के सम्बन्ध में लगा दें। हमें जो ईख का रस, मदिरा, घृत, दूध, दही और शुद्ध जल मिलता है वह सूर्य द्वारा ही मिलता है। सूर्यदेव अपनी किरणों से इक्षु, सुरा, क्षीर, दधि, घृत और शुद्ध जल वाले समुद्रों से इन वस्तुएँ से मिले जल को लाकर ओषधियों पर बरसा देते हैं। उसी से ये वस्तुएँ ओषधियों द्वारा हमें मिल जाती हैं। नहीं तो घास आदि तृणों में दूध, घृत कहाँ से आ गया ? महुआ जौ आदि में मदिरा कहाँ से आ गयी ? तिल आदि में तैल कहाँ से आ गया ? दूध में घृत कैसे आ गया ? हमारे चारों ओर तो खारा समुद्र है हमें मीठा जल कैसे मिल गया ? ये सब वस्तुएँ हमें सूर्य द्वारा ही प्राप्त होती हैं। सूर्य अपनी किरणों से इन वस्तुओं को चुराकर–खींचकर–ले आते हैं ओषधियों पर बरसा देते हैं, उन्हीं के द्वारा ये वस्तुएं उपलब्ध होती हैं इन वस्तुओं का कहीं-न-कहीं भण्डार

भरा होगा, इनका समुद्र होगा, उन्हीं से तो सूर्य लाते होंगे, नहीं तो सूर्य के घर में इतनी वस्तुएँ रखी थोड़े ही रहती होंगी। इन सातों समुद्रों में है तो जल ही किन्तु क्षीर समुद्र में दुग्धांश अधिक है इसी प्रकार सभी समुद्रों में उन-उन वस्तुओं का अंश अधिक है। जैसे हमारा क्षार समुद्र है। इसमें नमक-ही-नमक थोड़े ही भरा है। समुद्र तो जल का ही है, किन्तु उसमें नमक का अंश अधिक है। समुद्र के जल को क्यारियों में भर देते हैं, तो नीचे नमक-नमक जम जाता है, उसी से समुद्री नमक बनता है। यही बात दूसरे समुद्रों के सम्बन्ध में है।

इन सब समुद्रों में मधुरता का अंश अधिक है। जैसे हमारा यह खारा समुद्र है। इसमें खारापन तो है ही। खारे के साथ जल भी है। जल स्वभाव से मधुर होता है। वैज्ञानिक लोग समुद्र के जल में से खारेपन को पृथक् करके उससे पीने योग्य मधुर पेय जल बना लेते हैं। अतः क्षार जल में भी मधु है। ईख तो मधुरता की रानी ही है। सुरा में भी मधुरता होती है, घृत तो मधुर ही है। दही में मधुरता आम्लता मिली ही रहती है। दूध तो मीठा है ही। मधुर जल भी मीठा है। कहने का भाव यही है, कि संसार की मुख्य सात वस्तुओं में मधुरता का—मधु का—अंश अधिक है। यह मधुरता सूर्य से प्राप्त होती है। धूँआ, ज्योति, जल और वायु मिलकर घन बनते हैं। उन मेघों द्वारा हमें मधुरता मिलती है। हमारा सम्पूर्ण जीवन मधुमय बन जाय, यह तभी संभव है जब हम मधु उपासना करें। पंसारी की दुकान में हरड़, आवला आदि अमृत भी हैं और कुचला, मींठा, संखिया आदि विष भी हैं। आप जैसी भावना से जो लेने के लिये उसके समीप जाओगे, वही वस्तु तुम्हें प्राप्त होगी। वस्तुएँ सब विद्यमान हैं किन्तु तुम्हें प्राप्त वे ही होंगी जैसी तुम्हारी उपासना होगी। नारी

एक है उसके पास पति प्रेम, भातृ प्रेम, पितृ प्रेम तथा वात्सल्य प्रेम सभी हैं। आप जिस भावना से उसकी उपासना करोगे वही प्रेम तुम्हें प्राप्त होगा।

यज्ञ धूम में आप जैसी भावना करोगे, वैसे ही भावयुक्त मेघ बनकर तुम्हारे लिये बरसा करेंगे और उनसे तुम्हारी इष्ट वस्तु की प्राप्ति होगी, अतः सूर्य में मधु भावना करके किस प्रकार मधु उपासना की जाय, इसी का वर्णन मधुविद्या में है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो तीनों सवनों के अधिकारी देवताओं का, देवताओं से सम्बन्धित साम सम्बन्धी स्तुतियों का, तीनों सवनों के होम सम्बन्धी मन्त्रों का तथा तीनों काल के उत्थानों का वर्णन करने के अनन्तर अब मधु विद्या का आरम्भ किया जाता है। मधुविद्या से अभिप्राय यहाँ सूर्यदेव की उपासना है। सूर्य की उपमा मधु से भरे हुए मधुमक्खी के छत्ते से दी है मधु शब्द का अर्थ है जिससे मोद हो, प्रसन्नता हो वही मधु है। तो ये सूर्यदेव देवताओं के मधु हैं। मौहार का छत्ता प्रायः वनों में बाँस आदि वृक्षों में लटका रहता है, अधर में। जैसे बाँसों का समूह (कोठी) उसमें से जिस बाँस में मधुमक्खी का छत्ता लगा होता है वह उस छत्ते के बोझ के कारण टेढ़ा हो जाता है। उसमें मधुमक्खियाँ रहती हैं। सभी मक्खियाँ अंडे बच्चे नहीं देती हैं। उन मक्खियों में एक सबसे बड़ी रानी मक्खी होती है, वही अकेली अंडे देती है। उन्हीं अंडों से मक्खियों के बच्चे होते हैं। वह रानी मक्खी छत्ते से बाहर-फूलों से-मधु चुनने-नहीं जाती है। वह छत्ते में ही रह कर अंडे देती है और अंडे बच्चों का पालन-पोषण करती है। शेष सब मक्खियाँ पुष्पों से शहद संग्रह करने जाती हैं। तो उस टेढ़े बाँस में मधु का जो मल है जिसे मोम कहते हैं, उससे ही वह छोटे-छोटे छिद्र रूप

घरों वाला छत्ता बनता है, उसमें कुछ घरों में तो अंडे बच्चे भरे रहते हैं, कुछ में शहद-मधु-भरा रहता है, उसी छत्ते को घेरकर मक्खियाँ उस पर बैठी रहती हैं।

उसी मधु भरे छत्ते की सूर्यनारायण से उपमा देते हुए बताते हैं-ये सूर्यनारायण आदित्य के-देवताओं के-मधु हैं। मधु तो छत्ते में भरा रहता है, टेढ़े बाँस में वह छत्ता अन्तरिक्ष में लटकता रहता है। इसी प्रकार स्वर्गलोक ही टेढ़ा बाँस है, अन्तरिक्ष अर्थात् भुवर्लोक ही मधुमक्खियों का छत्ता है सूर्य की जो किरणें हैं मानों वे ही उस छत्ते में रहने वाले मधुमक्खियों के बच्चे हैं। छत्ते में छिद्र रूपी घर तो चारों दिशाओं में होते हैं, तो सूर्यनारायण की पूर्वदिशा की जो किरणें हैं, वे ही मानो उस अन्तरिक्ष रूपी छत्ते के पूर्व दिशावर्ती छिद्र रूप घर हैं। ऋक्वेद की जो ऋचायें हैं, वे ही मानों पूर्व दिशा में छत्ते में रहने वाली मधुमक्खियाँ हैं। सूर्य की किरणों में तो जल भरा रहता है, तो मानों सम्पूर्ण ऋक्वेद ही उस छत्ते का सोम आदि अमृत जल है। और ऋक्वेद विहित कर्म ही पुष्प हैं। उन ऋक्वेद की ऋचा रूप मधुमक्खियों ने ही इस ऋग्वेद का अभिताप किया है, अर्थात् ऋक्वेद विहित कर्म में प्रयुक्त सोम आज्य पयोरूप जल अग्नि में अभितप्त करके ऋक्वेद विहित कर्म रूप फूल को तपाकर-जैसे पुष्पों से मधुमक्खियाँ रस बनाती हैं-वैसे ही ऋग्वेद से यश, तेज, इन्द्रिय शक्ति, वीर्य तथा अन्न आदि रस को ऋग्वेद की ऋचायें उत्पन्न करती हैं।

जैसे मधुमक्खियाँ फूलों से रस लेकर उसे तपाकर छत्ते में लाकर संग्रह करती हैं, वैसे ही ऋक्वेद की ऋचाओं ने ऋग्वेद सम्बन्धी कर्मों को ही तपाकर उससे रस निकाला। वह रस क्या है यश, तेज, इन्द्रिय शक्ति तथा खाद्य अन्नादि रूप है। यह रस विशेष रूप से बाहर निकल कर चला। वहाँ से निकल कर

आदित्य के चारों ओर लिपट गया। उसने पूर्व भाग में आश्रय लिया। सूर्यनारायण की जो लालिमा है, सूर्यनारायण में जो लाल रूप है यही मानों ऋक्वेद सम्बन्धी रस है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! सूर्य को (छत्ता में स्थित) मधु के रूप में कल्पना करने में उसके चारों दिशाओं के छिद्रों की चारों वेदों से सूर्य के चारों वर्णों से उपमा करेंगे। यहाँ ऋक्वेद, पूर्व दिशा और लोहित वर्ण की उपमा की। अब आगे पश्चिम, उत्तर, दक्षिण दिशाओं की, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद की तथा शुक्ल, कृष्ण और अत्यन्त कृष्ण वर्णों की जैसे उपमा देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

ऋग्वेदनि की ऋचा सकल मधुमक्खी मानों।
खाद्य अन्न यश तेज वीर्य इन्द्रिय रस जानों॥
वह रस बहिकें चल्यो सूर्य चहुँदिशि लपटानों।
पूर्व दिशा में अधिक पाइ आश्रय हरसानों॥
सूरज मंडल में दिखै, लाल रूप दिशि पूर्वमहँ।
ऋग्वेदहिँ के कर्म को, है रस मधुकर ऋचनिमहँ॥

—:—

सूर्य की दक्षिण, पश्चिम, उत्तर तथा ऊर्ध्व दिक्सम्बन्धिनी किरणों में मधुनाड्यादि-दृष्टि

[१३७]

अथ येऽस्य दक्षिणा रश्मयस्ता एवास्य दक्षिणा मधुनाड्यो यजूँष्येव मधुकृतो यजुर्वेद एव पुष्पं ता अमृता आपः ॥❀

(छां० उ० ३ प्र० २ खं० १ मं०)

छप्पय

दक्षिण पश्चिम उत्तर यजु साम हु आथर्वन ।
वेद विहित सब कर्म सबहिँ के समुझो सुमनन ॥
सब वेदनि की कही सकल श्रुति मधुकर मुनिवर ।
श्रुति सब सुमननि लेइँ सु-रस अभिताप करहिँ वर ॥
अभितप्त हि रस तेज, यश, इन्द्रिय बल अरु वीर्य जो ।
अन्न आदि रस उदित हुै, आश्रयहित करि गमन सो ॥

❀ तदनन्तर उस आदित्य की जो दक्षिण दिशा की किरणें हैं, वे उस मधुमक्खियों के छत्ते की दक्षिण दिक्सम्बन्धिनी मधु नाड़ियाँ हैं। यजुर्वेद की श्रुतियाँ ही मधु की मक्खियाँ हैं, यजुर्वेद सम्बन्धी जो कर्म हैं वे ही पुष्प हैं। तथा अमृत ही जल है।

आदित्य को देवताओं का मधु (शहद) बताया है, अन्तरिक्ष में यह छत्ता लटक रहा है। सूर्य की किरणें ही मधु नाड़िकायें हैं। सूर्य की किरणें तो चारों दिशाओं में तथा ऊपर की ओर व्याप्त हैं। उनमें से बहता हुआ मधु सूर्य में किस रंग का होकर किस ओर कैसा दृष्टिगोचर होता है, उसका कैसे ध्यान करना चाहिये। इसी बात को बताते हैं। आदित्य की पूर्व दिशा सम्बन्धिनी किरणों में किस प्रकार मधुनाड्यादि-दृष्टि करनी चाहिये इसका वर्णन हो चुका। अब पूर्व के अतिरिक्त जो दक्षिण, पश्चिम, उत्तर दिशायें हैं उनकी मधु नाड़ियों में सूर्य की किरणों के साथ कैसी दृष्टि करनी चाहिये। अब इसी बात का उल्लेख किया जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! पिछले प्रकरण में यह बात बतायी कि आदित्य ही देवमधु है। स्वर्गलोक रूपी तिरछे बाँस में अन्तरिक्ष रूपी मधुमक्खियों का छत्ता लटका हुआ है, उस छत्ते में सूर्य की किरणें ही मानों मधुमक्खियों के बच्चे हैं। सूर्य की पूर्व दिशा की किरणें ही उस छत्ता के छिद्र हैं। ऋक्वेद की ऋचायें ही मधुमक्खियाँ हैं। ऋक्वेद का जो कर्म है वही मानों सुमन-पुष्प-हैं। जैसे मधुमक्खियाँ फूलों से रस चुनकर उसका अभिताप करके-उसे भली-भाँति अभितप्त करके-उसका शहद बनाकर संग्रह करके रखती हैं, उसी प्रकार वेदों की पृथक-पृथक् ऋचायें, वेदों के कर्मकाण्ड रूपी फूलों से रस लेकर उसे अभितप्त करके रस बनाते हैं। वह रस क्या है? यश, तेज, इन्द्रिय सामर्थ्य वीर्य तथा अन्नादि पदार्थ हैं। इन्हीं सूर्यप्रदत्त वस्तुओं में रस की तथा सूर्य के रंगों में मधु की भावना करके उपासना करनी चाहिये।"

इस प्रकार पूर्वदिशा का वर्णन करके इसी भाँति दक्षिण

दिक्सम्बन्धिनी किरणों में मधुनाड़ी आदि की दृष्टि कैसे करनी चाहिये। पहिले इसे ही बताते हैं—आदित्य की दक्षिण दिशा की किरणें ही मानों मधु की नाड़ियाँ हैं। ययुर्वेद की समस्त श्रुतियाँ ही मानो मधुमक्खियाँ हैं। यजुर्वेद विहित कर्म ही मानों पुष्प हैं। उन कर्मों को जब सोम आदि आज्य पय रूप जल में डालकर पकाया जाता है तब उसका रस बन जाता है वह रस क्या है? यश, तेज, इन्द्रिय शक्ति, वीर्य और अन्नादि रूप रस हो जाता है। वह रस अधिक होने से उन मधुनाड़ियों से बाहर निकलकर बहने लगा। उसने आदित्य के चारों ओर आश्रय लिया। उसने लाल रूप धारण कर लिया। आदित्य में जो लाल रूप है, यह वही यश, तेज, इन्द्रिय शक्ति, वीर्य तथा अन्नादि रूप रस है।

अब पूर्व दक्षिण की सूर्य रश्मियों का वर्णन करके पश्चिम दिशा की रश्मियों का वर्णन करते हैं आदित्य की जो पश्चिम दिशा की किरणें हैं, वे ही मानों अन्तरिक्ष रूप छत्ते की पश्चिमीय मधुनाड़ियाँ हैं। साम की समस्त श्रुतियाँ ही मानों मक्खियाँ हैं। सामवेद विहित कर्म ही मानों पुष्प हैं। उनमें सोमादि रूप जो अमृत है मानों वही जल है सामवेद की श्रुतियों ने साम विहित कर्म रूपी पुष्पों से रस लेकर उसे तपाया। वही अभितप्त साम ही यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य और अन्न आदि रूप रस पैदा हुआ। वह रस जब बहने लगा तो आदित्य पश्चिम भाग में उसने आश्रय प्राप्त किया। सूर्य में जो कृष्ण वर्ण का तेज है वही मानों वह घनीभूत रस है।

पूर्व, दक्षिण तथा पश्चिम दिशाओं का वर्णन करने के अनंतर उत्तर दिशा की आदित्य किरणों का वर्णन किया जाता है। सूर्य की उत्तर दिशा की किरणें ही मानों औत्तरीय मधुनाड़ियाँ हैं। अथर्ववेद की समस्त श्रुतियाँ ही मानों मधुमक्खियाँ हैं। इतिहास

पुराण ही मानों पुष्प हैं, उसमें सोमादि अमृत ही मानों जल है। उन श्रुतियों ने इतिहास पुराण रूप पुष्पों से रस लेकर उसे अभितप्त किया। उसी से यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य तथा अन्नादि रूप रस उत्पन्न हुआ। वह रस बहने लगा तब उसे सूर्यनारायण के पश्चिम भाग में आश्रय प्राप्त हुआ, तब उस रस ने कृष्ण रूप धारण कर लिया। सूर्यनारायण में जो कृष्ण वर्ण दीखता है। वही अथर्ववेद की श्रुतियों द्वारा इतिहास पुराण से लेकर अभितप्त रस है।

अब पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशाओं के भाग का वर्णन करके ऊर्ध्व रश्मियों में जैसे ऊपर की ओर जो मधुनाड़ियाँ हैं, उनमें कैसी दृष्टि करनी चाहिये। इस बात को बताते हैं। आदित्य देव की ऊपर की ओर जाने वाली जो किरणें हैं, वे ही मानों ऊपर की ओर की मधुनाड़ियाँ हैं। प्रणवरूप गुह्य आदेश ही मधुमक्खियाँ हैं। परब्रह्म परमात्मा ही पुष्प हैं। तथा सोमादि रूप अमृत ही आप हैं। इन गुह्य आदेशों ने ओंकार-प्रणव-को अभितप्त किया। उसी अभितप्त ब्रह्म से ही यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य तथा अन्नादि रूप रस की उत्पत्ति हुई। वह रस बहने लगा उस रस ने विशेष रूप से गमन किया। वह आश्रय खोजने लगा, तब उसे आदित्य के ऊर्ध्व भाग में आश्रय प्राप्त हुआ। आदित्य के मध्य में जो कम्पन-सी प्रतीति होती है। क्षुब्ध-सा प्रस्फुरित होता है। वही वह इन्द्रिय, वीर्य, यश, तेज, रूप मधु रस है।

सूर्य में जो लाल, शुभ्र, कृष्ण और अत्यन्त कृष्ण रंग तथा मध्य भाग में ध्यान से-देखने पर-जो कम्पन प्रतीत होती है, ये सब लोकों के सारभूत रसों के सर्वोत्तम रस हैं। ये चारों वेदों के भी सारभूत रस हैं। ये अमृतों के भी अमृत हैं। वैसे वास्तव

में वेद ही अमृत है और ये उस अमृत का भी सारभूत महामृत है। यही इसकी महिमा है। यही माहात्म्य है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यह मैंने मधु उपासना के सम्बन्ध में चारों वेद, चारों दिशायें, तथा चारों वर्णों के सम्बन्ध में बताया। अब तीनों सवनों के अधिकारी देवों के जीवनाश्रय रूप जो मधु है, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। आशा है आप इस मधुविद्या सम्बन्धी प्रसंग को दत्तचित्त होकर श्रवण करेंगे।"

छप्पय

सो रस चारिहु दिशनि ऊर्ध्व रवि के लिपटानो।
लाल, शुक्ल अति कृष्ण कृष्ण रंगनि हि दिखानो॥
ऊर्ध्व प्रवण मधुकरहु कर्यो अभितप्त बन्यो रस।
अन्नादिक धरि रूप वीर्य इन्द्रिय तेजहु यश॥
कह्यो गमन रवि मध्य में, कम्पन बनि दीखत भयो।
सु-रस वेद तिहि सार-रस, अमृत-अमृत मधु ह्वै गयो॥

इति छान्दोग्य उपनिषद् के तृतीय अध्याय में द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पंचम खण्ड समाप्त।

अमृतोपासना (मधुविद्या)

[१३८]

तद्यत्प्रथमममृतं तद्वसव उपजीवन्त्यग्निना मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥*
(छां० उ० ३ प्र० ६ ख० १ मं०)

छप्पय

प्रथम अमृत वसु अग्नि बने जीवन धारन करि ।
दीठि मात्र तैं तृप्त उदासी उत्साहहिँ भरि ॥
बसु बनि अग्नि प्रधान तृप्त उत्साह उदासी ।
अजर अमर बनि रहैं सूर्य जब तलक प्रकाशी ॥
द्वितीय अमृत है रुद्रगण, इन्द्र प्रधान कहावते ।
होहिँ तृप्त सुर अमृत लखि, जानि रुद्र बनि जावते ॥

मृत्यु से सभी भयभीत रहते हैं, किसी भी लोक में चले जाओ वहाँ मृत्यु का—पतन का—भय बना ही रहता है। अतः प्राणी अमृत प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करता रहता है। भिन्न-भिन्न लोकों में भिन्न-भिन्न वस्तुओं में प्राणियों ने अमृत की कल्पना कर रखी है। इस मर्त्यलोक—भूलोक—में कान्ता के अधर रस को ही लोग अमृत

---

* जो प्रथम अमृत है उससे अग्नि प्रधान होकर वसुगण जीवन धारण करते हैं। बात यह है कि देवता खाते-पीते तो हैं नहीं। वे केवल इस अमृत के दर्शन मात्र से ही तृप्त हो जाते हैं।

कहते हैं। शीतकाल में अग्नि को अमृत बताते हैं, राज्य सम्मान प्राप्त होना यह अमृत सदृश ही माना है। अपने प्रियतम का सम्मिलन भी अमृत कहा गया है, दुग्ध भोजन की भी अमृत से उपमा दी गयी है और घृत को भी मर्त्यलोक का अमृत बताया है (आज्यं वै अमृतम्) इसीलिये नास्तिक लोग कहते हैं, ऋण लेकर भी घृत को पीना चाहिये, देह जब भस्म हो जायगी, तो घृत पीने कौन आवेगा। किन्तु हम देखते हैं, संसारी लोग सतत कान्ता के अधरामृत का पान करते हैं। दूध, दही, घृत खाते हैं किन्तु किसी को भी आज तक हमने अमर होते नहीं देखा। कोई दस वर्ष अधिक जीता है, कोई दस वर्ष कम। एक दिन तो सभी को मरना ही होता है। स्वर्ग में देवताओं का अमृत दूसरा ही होता है। उनका अमृत सूर्य में स्थित रहता है। आदित्य ही देवताओं का अमृत है। सूर्य में जो लाल, शुभ्र, कृष्ण, अतिकृष्ण और कंपन रूप जो रस समूह हैं, वही देवताओं के लिये अमृत है। देवगण हम पृथ्वी लोक के पुरुषों के सदृश न तो खाते ही हैं और न पीते ही हैं, वे देखकर-केवल सूँघकर-ही तृप्त हो जाते हैं। यह जो पाँच प्रकार का सूर्य में अमृत बताया है उसका उपभोग क्रमशः वसुगण, रुद्रगण, आदित्यगण, मरुद्गण और साध्यगण जो देवताओं के गण हैं, ये ही करते हैं। अर्थात् उन देवों के लिये वही अमृत है। महर्लोक में महर्षिगण धर्म को ही अमृत मानकर उसका आश्वादन करते हैं। जनलोक निवासी अखंड ब्रह्मचर्य को ही अमृत मानकर उसका पालन करते हैं। तप लोक में तपस्या को ही अमृत मानकर वहाँ के निवासी निरंतर तप में ही निरत रहते हैं। ब्रह्मलोक में ज्ञान को ही अमृत मानकर ब्रह्माजी के साथ उसी का आस्वादन करते हैं। किन्तु ये सभी लोक क्षयिष्णु हैं, पुनरावृत्तिशील हैं। जन्म-मरण को देने वाले

हैं। वास्तव में अमर तो वही है, जो भगवत् कृपा से भगवत् चरणारविन्दों में प्राप्त हो चुका है। जो प्रपन्न बनकर उनकी शरण मे आ गया है। वही सर्वथा स्वस्थ होकर तान दुपट्टा सोता है। मृत्यु उसके समीप से भाग जाती है। वही वास्तविक अमृत को पान करके अमर हो गया है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आदित्य में लोहित, शुक्ल, कृष्ण, अतिशय कृष्ण और कंपन वाले यश, तेज, इन्द्रियशक्ति, वीर्य और अन्नादि खाद्य रूप पाँच प्रकार के अमृत बताये। अब इन पाँचों अमृतों का उपभोक्ता कौन-कौन देवता है, इसका वर्णन करते हैं। सूर्य में जो लोहितवर्ण वाला पहिला अमृत है, उसका उपभोग प्रातःसवन के अधिकारी वसुगण अग्नि प्रधान होकर अग्नि के द्वारा करते हैं। उसका उपभोग वे कैसे करते हैं, इस बात को बताते हैं–देखो, देवतागण मनुष्यों की भाँति न तो खाते ही हैं और न पीते ही हैं। वे दृष्टि मात्र से ही तृप्त हो जाते हैं। जहाँ उन्होंने उस अमृत को देखा, वहाँ भोगावसर न होने से रूप को लक्षित करके उदासीन से हो जाते हैं। जब अमृत के भोग का अवसर आ जाता है तब वे परम उत्साहित हो जाते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! देवता न खाते हैं और न पीते ही हैं, केवल देखने मात्र से ही तृप्त हो जाते हैं, तो फिर उदासीन क्यों होते हैं?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! देखने से तात्पर्य यह नहीं है, कि दूर से देख लिया। इन्द्रिय संनिकर्ष होने से ही उपभोग होता है, जब भोग का अवसर नहीं है, तब तो भोग प्राप्त न होने पर उदासीन होना स्वाभाविक ही है। जब भोग का अवसर उपस्थित हो जाता है, नेत्रों से उसे देखते हैं, घ्राण इन्द्रिय से उसे सूँघते हैं, तब उत्साहित होते हैं। देवता खाते नहीं सूँघते हैं, (घ्राणं अर्ध भोज-

नम्) सूँघ लेना भी आधे भोजन के समान है। खाने से तो वस्तु घटती है, किन्तु सुवास लेने से सूँघने से–उसमें से मधु अंशमात्र ग्रहण करने से–वस्तु ज्यों-की-त्यों ही बनी रहती है। उपभोग कर लेने वाले उपभोग भी कर लेते हैं। वस्तु में विकृति भी नहीं आती। जैसे फूलों को तोलकर रख दो। फिर चाहें जितने आदमी उसकी सुवास लेकर–सूँघकर–आनन्द का अनुभव करें। फूलों का बोझ कम न होगा। फूलों से मधुकर मधु ले जाते हैं, किन्तु फूल का न तो बोझ ही कम होता है और न उसमें किसी प्रकार की विकृति ही आती है। इसीलिये साधु महात्मा मधुकरी वृत्ति अपनाते हैं। गृहस्थी जब भोजन कर चुकें। उनके भोजन के अनन्तर एक आध रोटी–एक आध टुकड़ा–बच गया। जो उनके काम का नहीं रहा। महात्मा आते हैं घर-घर से ऐसे टुकड़े माँग कर अपनी वृत्ति चलाते हैं। इससे गृहस्थियों पर तो बोझा पड़ा नहीं, उनका निर्वाह हो गया। इसीलिये मधुकरी वृत्ति सर्वोत्तम मानी गयी है।"

देवतागण दूर से उस आदित्य के अमृत को देखते हैं, तो उसके रूप को परिलक्षित करके भोग का अवसर न आने से पहिले तो उदासीन से हो जाते हैं। जब भोग का अवसर आता है, समीप से देखते हैं सूँघते हैं, तब उसके निकट दर्शन से, प्राण से उत्साहयुक्त होकर प्रमुदित हो जाते हैं। इसका भाव यह हुआ कि बहुत-सी ओषधियाँ हैं, उनके केवल देखने मात्र से रोग नहीं चला जाता। जब उसका स्पर्श–करते हैं सूँघते हैं सेवन करते हैं, तब रोग जाता है। तभी बलवीर्य उत्साह स्फूर्ति आती है। संसार में अनुष्ठानहीन अनुत्साही पुरुषार्थ से रहित आलसी लोगों को भोगों की प्राप्ति नहीं होती। जो कुछ उद्योग करते हैं, भोगों के

सन्निकट जाते हैं उन्हें ही भोगों की प्राप्ति होती है तभी उत्साह बढ़ता है।

शौनकजी ने पूछा—"इस आदित्य के अमृत ज्ञान से क्या लाभ है ? इसका फल क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! वसुओं के उपभोग योग्य इस आदित्य सम्बन्धी लोहित वर्ण के अमृत को जो यथार्थ रूप से जान लेता है। इसका परिज्ञान कर लेता है, वह निधन के पश्चात् वसुओं में से ही कोई एक वसु बनकर अग्नि की प्रधानता से उसे देखकर तृप्त हो जाता है रूप को परिलक्षित करके वह भी उदासीन होता है और उसके उपभोग से ही उत्साहित हो जाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"ऐसा विशेषज्ञ साधक कितने काल तक वसुत्व को प्राप्त करके-वसुओं के आधिपत्य और स्वाराज्य का उपभोग करता है ?"

सूतजी ने कहा—"मुनिवर ! वह तब तक वसु बनकर वसुओं के आधिपत्य और स्वाराज्य को प्राप्त करता है, जब तक सूर्यनारायण पूर्व दिशा में उदित होते रहते हैं और पश्चिम दिशा में अस्त होते रहते हैं। वसुओं का भोगकाल इतना ही होता है। जो दशा वसुओं के भोग्य लोहित रंग वाले प्रथम अमृत की है, वही दशा दूसरे अमृत की है ?"

शौनकजी ने कहा—"दूसरा जो शुभ्र वर्ण का अमृत है उसका उपभोग कौन-से देवगण करते हैं।"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! दूसरे अमृत का पान वसुगण करते हैं। यह तो मैं पहिले ही बता चुका हूँ कि देवगण खाते-पीते नहीं, वे अमृत को देखकर ही तृप्त हो जाते हैं, जैसा कि पहिले कहा दूर से रूप को परिलक्षित करके भोगावसर न देखकर प्रथम उदासीन हो जाते हैं, भोगावसर आने पर उद्यमशील हो जाते हैं।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! इसके जानने का फल क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"इसे जानने वाला रुद्र ही हो जाता है। एकादश रुद्रों में से कोई रुद्र बनकर इन्द्र की प्रधानता से अमृतोपभोग से तृप्त रहते हैं। उनका समय वसुओं के भोग से दुगुणा होता है। इतने समय तक वह उपासक रुद्रों के आधिपत्य को एवं स्वाराज्य को प्राप्त होता है।"

शौनक जी ने कहा—"अब तृतीय अमृत की उपासना बताइये।"

सूतजी ने कहा—"तीसरे अमृत का उपभोग आदित्यगण वरुण प्रधान होकर करते हैं। और सब बातें तो पूर्ववत् ही हैं देवगण बिना खाये पिये दृष्टि मात्र से भोगावसर आने पर उत्साहित होते हैं। इस अमृत के ज्ञाता के उपासक को आदित्यत्व की प्राप्ति होती है,रुद्रों से दूने समय तक आदित्योंके आधिपत्य और स्वाराज्य को प्राप्त होता है। अर्थात् आदित्य जितने समय में दक्षिण से उदय होता है और उत्तर मे अस्त होता है। उससे दूने समय में पश्चिम से उदय होकर पूर्व मे अस्त होता है। चौथा जो अमृत वह मरुतों का जीवनाधार है। मरुद्गण उसी अमृत की उपासना करते हैं, और सब तो पूर्ववत् ही है। इस उपासना का ज्ञाता मरुद्गणों में से कोई एक मरुद्गण होकर आदित्यों से दूनी समय तक उसका उपभोग करता है। अर्थात् आदित्य जितने समय में पश्चिम में उदय होता है और पूर्व में अस्त होता है उससे दूने काल में उत्तर से उदित होकर दक्षिण में अस्त होता है, उतने काल तक मरुद्गण के आधिपत्य को तथा स्वाराज्य को प्राप्त होता है। इसी प्रकार पाँचवाँ जो अमृत है वह साध्यों का जीवनाधार है। जो साधक उस अमृत की उपासना करता है वह साध्यों में से एक कोई

साध्य बनकर मरुतों से दूने समय तक अर्थात् आदित्य जब उत्तर से उदित होकर दक्षिण में अस्त होते हैं, उससे दूने काल तक ऊपर से उदित होकर नीचे की ओर अस्त होते हैं उतने समय तक साध्यों के आधिपत्य को प्राप्त करके स्वाराज्य सुख का उपभोग करता है।

शौनक जी ने कहा--"सूतजी! हम तो सदा से यही सुनते आये हैं, कि सूर्य सदा पूर्व से उदय होते हैं, पश्चिम में अस्त होते हैं। सूर्यनारायण सुमेरु पर्वत की परिक्रमा किया करते हैं। सुमेरु पर्वत की चारों दिशाओं में चारों लोकपालों की पुरियाँ हैं। पूर्व दिशा में देवराज इन्द्र की देवधानी पुरी है, दक्षिण में यमराज की संयमनी पुरी है। पश्चिम में वरुण की निम्लोचनी पुरी है। और उत्तर में चन्द्रदेव की विभावरी नाम की पुरी है। इन पुरियों में मेरु के चारों ओर समय-समय पर सूर्योदय, मध्याह्न, सायंकाल और अर्धरात्रि काल होते रहते हैं। जिस पुरी में सूर्यभगवान् का उदय होता है उसके ठीक दूसरी पुरी में वे अस्त से होते प्रतीत होते हैं। भाव यह है, सभी पुरियों में सूर्य के उदय अस्त का काल समान ही है, क्योंकि सुमेरु के चारों ओर जो सूर्यनारायन घूमते हैं, उनका तो सर्वत्र समान मार्ग ही है। फिर यहाँ कभी आप सूर्य को पूर्व से उदय हुआ बताते हैं। कभी पश्चिम से और कभी उत्तर, दक्षिण तथा ऊपर से उदय बताते हैं और भिन्न-भिन्न दिशाओं में उनका अस्त होना बताते हैं। और वसु, रुद्र, आदित्य मरुद् और साध्य गणों के भोग काल को क्रमशः द्विगुणा करते जाते हैं, इसका रहस्य क्या है?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! आप सब जानते हैं। भगवान् सूर्यनारायण न तो कभी उदय होते हैं और न कभी अस्त ही होते हैं। वे सदा एक से उदित ही बने रहते हैं। प्राणी अपनी

सुविधा के अनुसार उन्हें उदय अस्त से मान लेते हैं। जैसे चन्द्रमा का शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष। अँधियारा पक्ष और उजाला पक्ष। विचार पूर्वक देखा जाय, तो चन्द्रमा तो दोनों पक्षों में बराबर-बराबर ही दिखायी देते हैं, किन्तु शुक्ल पक्ष में वे रात्रि के पहिले भाग में जब हम जागते रहते हैं तब उदित होते हैं, इसीलिये उस पक्ष को हम लोग शुक्ल पक्ष कहने लगे हैं, कृष्ण पक्ष में चन्द्रमा तब उदित होते हैं, जब हम सोते रहते हैं, जब तक हम जागते हैं, चन्द्रमा नहीं उदित होते। इसलिये उस पक्ष को हम कृष्ण पक्ष या अँधेरा पाख कहते हैं। हमने अपनी सुविधा के अनुसार पक्षों का नाम रख रखा है। नहीं तो चन्द्रमा तो दोनों पक्षों में समान ही रहते हैं।

इसी प्रकार सूर्य न उदय होते हैं न अस्त, पुरियों की स्थिति के अनुसार वे उदित अस्त-से प्रतीत होते हैं। ये लोकपालों की पुरियाँ भी क्षयिष्णु—नाशवान—है। जैसे हम मर्त्यलोक के प्राणियों की पुरियाँ अन्तवन्त-विनाशशीलिनी होती है, वैसे ही सुमेरु शिखर की पुरियाँ भी एक-न-एक दिन नष्ट हो जाती हैं। उनका आचार्यों के मत के अनुसार एक दूसरी से द्विगुण काल में विनाश होता है। जैसे अमरावती अथवा देवधानी से दूने समय में संयमनी का, संयमनी से दूने काल में निम्लोचनी का तथा निम्लोचनी से दुगुने समय में विभावरी पुरी का। इन पुरियों में रहने वाले देवगणों की दृष्टि में जब सूर्य आते हैं, तब वे उनका उदय मानते हैं। और जब उनकी दृष्टि से ओझल हो जाते हैं, उस समय वे सूर्य अस्त हो गया ऐसा कह देते हैं। यद्यपि सूर्य सदा उन्हीं पुरियों से जाते हैं, तथापि उन पुरियों में जब कोई नहीं रहता तो सूर्य को देखने वाला, कोई जिन पुरियों में नहीं रहता तो उनकी दृष्टि में वहाँ सूर्य उदय ही नहीं होता।

और जो पुरियाँ नष्ट होने से बच जाती हैं वहाँ के लोग सूर्य के आने पर उसे उदय कहते हैं।

उदाहरण के रूप में आप यों समझें, कि इन्द्र की अमरावती पुरी की अपेक्षा यमराज की संयमनी पुरी दुगुने काल तक रहती है। अमरावती के नष्ट हो जाने पर जब सूर्य संयमनी पुरी में जायँगे, तो संयमनी तो दक्षिण दिशा में है, किन्तु वहाँ वाले सूर्य को देखकर कहेंगे—"देखो, सूर्य उदय हो गये।" तो उनके अनुसार सूर्य दक्षिण में उदय होकर उत्तर दिशा में अस्त हुए।

जिस समय अमरावती पुरी में सूर्य मध्याह्न में स्थित रहेगा, उस समय संयमनी में उदय-सा होगा। इसीलिये प्रथम अमृत में सूर्य को पूर्व दिशा से उदित होकर पश्चिम दिशा में अस्त होना बताया है। दूसरे अमृत में दुगुना काल होने पर दक्षिण से उदय होकर उत्तर में अस्त होना बताया है। तृतीय अमृत मे इस से दुगुना समय होने से पश्चिम से उदय होकर पूर्व में अस्त होना बताया है और चतुर्थ अमृत में इससे दुगुने काल में उत्तर से उदय होकर दक्षिण में अस्त होना बताया है। वास्तव में तो सूर्य न कभी उदय होते हैं न अस्त होते हैं। जैसे काल है वह तो सदा चलता रहता है, उसमें वर्ष, मास, ऋतु,पक्ष,वार,दिन,रात्रि, घटी, पल आदि नहीं होते हम अपनी सुविधानुसार कल्पना कर लेते हैं आज रविवार है, आज चन्द्रवार है। आज कृष्ण पक्ष है, आज शुक्ल पक्ष है, आज चैत्र है,आज वैशाख है। आज शरद है, आज वसंत है। आज अमुक सम्वत्सर है। काल में स्वतः ये विभाग नहीं। इसी प्रकार सूर्य में पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, तथा उदय होना अस्त होना ये भेद नहीं। ये तो पुरियों के नष्ट होने और उदय होने से कल्पना कर ली गयी है।

शौनकजी ने कहा—"चारों दिशाओं की चारों पुरियों की

बात तो ठीक है, किन्तु पाँचवें अमृत मे जो ऊपर की ओर उदय होना और नीचे की ओर अस्त होना बताया है, इसे कैसे जानें। सूर्य तो सुमेरु की परिक्रमा करते हैं। चारों दिशाओं की पुरियों के निवासियों की दृष्टि से तो उदय अस्त कहना संभव है। सूर्य का ऊपर से उदय होना नीचे को अस्त होना यह कैसे कल्पना की जा सकती है।"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! इलावृत खंड मध्य में है, उसी में सुमेरु पर्वत है। उस खंड को पर्वत परकोटे के सदृश घेरे हुए है। इससे सूर्य की रश्मियाँ उन पर्वत परकोटों से रुकी-सी प्रतीत होने लगती है। इसलिये उस खंड में रहने वालों को सूर्य ऊपर की ओर से उदित होते हुए से प्रतीत होते हैं और नीचे की ओर अस्त होते से प्रतीत होते हैं। केवल अमृत से ही जीवन व्यतीत करने वाले देवगणों के भोगकाल को द्विगुणित प्रदर्शित करने के निमित्त ही सूर्य का भिन्न-भिन्न दिशाओं में उदय होना अस्त होना निरूपण किया है। अब आगे देवताओं का जब पुण्य समाप्त हो जाता है तब भोगों के क्षय के अनन्तर-सब का उपसंहार हो जाने पर-आदित्य रूप ब्रह्म की स्वस्वरूप में कैसे स्थिति होती है, ब्रह्मलोक मे क्या है तथा मधुविद्या का फल और उसके सम्प्रदाय परम्परा के सम्बन्ध मे मैं आपको आगे बताऊँगा।

छप्पय-दूने वसुअनि रुद्र द्वितिय अमृत उपभोगें।
तिनि दूने आदित्य मरुद् तिनि दूने भोगें॥
तिनि तैं दूने साध्य अमृत लखि तृप्त होइँ सब।
उदासीन हों प्रथम फेरि उत्साह भरहि सब॥
ज्ञाता बनि वसु, रुद्र अरु. आदित्य हु पुनि मरुद्गन।
साध्य, आधिपत पाइ कें, स्वाराज्यहि भोगें मगन॥

मधु विद्या के अधिकारी तथा उसका फल और सम्प्रदाय परम्परा

(१३६)

न वै तत्र न निम्लोच नोदियाय कदाचन ।
देवास्तेनाहं सत्येन मा विराधिषि ब्रह्मणेति ॥*

(छा० उ० ३ अ० ११ खं० २ मं०)

छप्पय

ब्रह्मलोक में सूर्य उदय अरु अस्त न होवें ।
वेद रहस कूँ जानि ब्रह्मविद ब्रह्महिँ जोवें ॥
उन हित उदय न अस्त दिवस ही होइ सर्वदा ।
तिनिकूँ मधुविज्ञान ब्रह्ममय होवे सुखदा ॥
ब्रह्माजी ने ज्ञान-मधु, दयो विराट प्रजापतिहिँ ।
दयो प्रजापति मनुहिँ फिरि, मनु ने दीयो सब प्रजहिँ ॥

परमात्मा ने इस जगत् की रचना जीवों के कर्म फलों को भुगाने तथा मोक्ष प्राप्त कराने के निमित्त और क्रीड़ा के निमित्त की। जीव न जन्म लेता है न मरता है। बार-बार शरीर परिवर्तित

---

* ब्रह्मलोक से लौटे हुए विद्वान् ब्रह्मलोक सम्बन्धी अपना अनुभव सुनाते हुए कह रहे हैं—वहाँ ब्रह्मलोक में अन्य लोकों की भाँति नहीं होता। वहाँ पर तो सूर्य का न कभी उदय होता है और न अस्त। हे देवगण ! इसी सत्य के कारण मैं कभी भी उस ब्रह्म से विरुद्ध न होऊँ।

होते रहते हैं। जीव संस्कारों के कारण अपने को बँधा-सा अनुभव करता है। जब इसके भोगों के संस्कार समाप्त हो जाते हैं, तब यह अपने को मुक्त मानने लगता है। भगवान् सूर्यनारायण भी उदय और अस्त का नाटक करते हुए प्राणियों के कर्मों को भुगाते हैं तथा प्राणियों की आयु को क्षीण करते से प्रतीत होते हैं। वास्तव में आदित्य तो साक्षात् ब्रह्म स्वरूप हैं, उनमें न उदय है न अस्त, वे तो सदा एकरस रहकर स्व-स्वरूप में स्थित रहते हैं, किन्तु इसका अनुभव ज्ञानी ही कर सकते हैं। ब्रह्मलोक पर्यन्त जितने भी लोक हैं, वे सब पुनरावृत्ति वाले हैं। जिसने साक्षात् परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त कर लिया है, वह न कहीं आता है न जाता है, वह न जन्मता है न मरता है, सदा एकरस बना रहता है। ऐसे पुरुषों के लिये अमृत स्वरूप आदित्य भी कभी अस्त नहीं होते। उसके लिये कभी रात्रि–अंधकार–नहीं होते। उसके लिये सदा दिवस–परमप्रकाश–ही बना रहता है। आगे उसी को बताते हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! मैंने वसुओं के, रुद्रों के, आदित्यों के,मरुतों के तथा साध्यों के जीवनाश्रय भूत, पाँच प्रकार के अमृतों की उपासना बतायी। देवताओं का मधु–अमृत–आदित्य ही हैं। प्राणियों के कर्मों को भुगाकर भोग क्षय कराकर आदित्य भगवान् अपने स्वरूप में स्थित होकर ब्रह्म साक्षात्कार के दिव्यामृत का पान कराते हैं। भोग क्षय होने के अनन्तर आदित्य का कैसा रूप होता है, वे किधर से उदय होते हैं, किधर अस्त होते हैं, इस बात को बताते हैं। मुनियो ! साध्यों के जीवनाश्रयभूत पञ्चम अमृत स्वरूप आदित्य का वर्णन करने के पश्चात् भगवती श्रुति कहती है—

जब आदित्य ऊर्ध्वगत होकर होता है और नीचे की ओर

अस्त होता है, इसके अनन्तर वह मध्य में उदय अस्त से रहित होकर एकाकी स्थित रहता है। उसमें का उदय अस्त भाव समाप्त हो जाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"इसको कैसे जानें ? क्या किसी ने सूर्य की ऐसी स्थिति का कभी साक्षात्कार किया भी है ?"

सूतजी ने कहा—"हाँ, ब्रह्मज्ञानियों ने इसका साक्षात्कार किया है, क्रम मुक्ति के प्रसंग में वसु, रुद्र, आदित्य, मरुत् तथा साध्यों के भोगों को भोगते हुए जिन्हें रोहितादि अमृत भोग की योग्यता प्राप्त हो चुकी है, ऐसा कोई ज्ञानी पुरुष ब्रह्मलोक तक पहुँच गया था। समाधि में ही उसे ब्रह्मलोक का साक्षात्कार हुआ। जब उसका समाधि से व्युत्थान हुआ तब किसी ने पूछा—"तुमने ब्रह्मलोक का साक्षात्कार किया है, वहाँ सूर्य हैं या नहीं ? यदि हैं, तो क्या हमारे इस लोक की भाँति वे उदय अस्त होकर प्राणियों की आयु को इसी प्रकार क्षय करते रहते हैं, जैसे मर्त्यलोक में करते हैं ?"

जब उन योगी से यह प्रश्न किया गया, तो उन्होंने इसका उत्तर देते हुआ कहा—"ब्रह्मलोक में सूर्य है तो अवश्य, किन्तु उनमें उदय अस्त भाव नहीं। वे सदा-सर्वदा उदित ही रहते हैं, कभी अस्त नहीं होते।"

इस पर पूछने वाले ने कहा—"ऐसा तो हो ही नहीं सकता, जो उदय हुआ है, उसे अस्त होना ही पड़ेगा।"

इस पर योगी ने कहा—"मैं यह कब कह रहा हूँ कि वह उदय हुआ ही है। मेरा कहना तो इतना ही है कि वहाँ न तो किसी भी समय, कहीं से भी सूर्य उदय होता है, न कभी कहीं भी अस्त होता है। सर्वदा एकरस बना रहता है। सतत दिवस ही बना रहता है। यदि तुम इस पर विश्वास नहीं करते हो तो मत

करें, किन्तु मैं शपथ पूर्वक कहता हूँ। मेरे इस कथन की सत्यता मे देवतागण साक्षी हैं। मैं देवताओं को साक्षी बनाकर शपथ खाकर कहता हूँ, कि हे देवगण! तुम मेरे इस कथन के साक्षी हो, मैंने जो यह सत्य बात कही है यदि वह सत्य न हो, तो मैं ब्रह्म के स्वरूप से विरुद्ध हो जाऊँ। यदि यह बात सत्य हो, तो मैं ब्रह्म के स्वरूप हो जाऊँ, अर्थात् मुझे ब्रह्म की प्राप्ति न हो।" जब स्वयं साक्षात्कार करने वाले ने शपथ पूर्वक कहा है, तब तो इसमें सन्देह ही नहीं।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! इस मधुविद्या के ज्ञान का फल क्या है?"

सूतजी ने कहा—"जो पुरुष इस ब्रह्म सम्बन्धी उपनिषद् को जानता है, उसके लिये सूर्य न उदय होता है और न अस्त ही होता है। सर्वदा दिन-ही-दिन बना रहता है। अर्थात् वह अज्ञान अन्धकार से निकलकर ज्ञान रूपी परमप्रकाश में प्रेमपूर्वक प्रविष्ट हो जाता है। उसके लिये आरम्भ-अन्त, उदय-अस्त का भेद मिट जाता है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! यह मधुविद्या तो सर्वोत्तम है। इसकी सम्प्रदाय परम्परा क्या है। पहिले पहिल इसका उपदेश किसने किसको दिया? फिर इसका प्रचार प्रसार पृथ्वी पर हो सका? कृपा करके इसे हमें और बता दीजिये?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! पहिले इस मधुविद्या को लोक पितामह भगवान् कमलासन ब्रह्माजी ने अपने विराट् प्रजापति को प्रदान किया, प्रजापति ने मनु से कहा। मनु ने समस्त प्रजाजनों में इसका प्रचार प्रसार किया। तथा दूसरी परम्परा में अरुण ऋषि ने अपने ज्येष्ठ पुत्र उद्दालक को इसका उपदेश दिया। फिर उद्दालक ने अपने ज्येष्ठ पुत्र श्वेतकेतु को इसका उपदेश दिया।

इस प्रकार वंशानुक्रम से इस विद्या का प्रचार प्रसार हुआ। यह बहुत ही रहस्यमयी विद्या है, इसका उपदेश सब किसी को नहीं करना चाहिये। पिता अपने सुयोग्य ज्येष्ठ पुत्र को उपदेश करे। गुरु अपने सुयोग्य शिष्य को उसकी योग्यता तथा पात्रता की परीक्षा करके करे। अन्य किसी दूसरे को भूलकर भी इसका उपदेश न दे। लोभ के वशीभूत होकर अयोग्य पुरुष को तो कभी भूलकर भी इसका उपदेश न करे। फिर वह चाहें कितना भी धनी क्यों न हो। वह चाहे दक्षिणा में सात समुद्र परिवेष्टित समस्त पृथ्वी को धन-धान्य से परिपूर्ण करके प्रदान करने का भी वचन क्यों न देता हो। क्योंकि इस विद्या के सम्मुख धन-धान्य से परिपूर्ण समस्त वसुन्धरा तुच्छ है। यह विद्या पृथ्वी धन-धान्य तथा संसार के समस्त भोगों से श्रेष्ठ है, इन सबसे यही अत्यधिक फल देने वाली है। उस इतनी बड़ी दक्षिणा से मधुविद्या अत्यधिक श्रेष्ठ है, अत्यधिक फल देने वाली है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यह मैंने आपसे देवताओं की जीवनाधार अमृत उपासना मधुविज्ञान रूपा परम गुह्यतम विद्या कही। अब आगे गायत्री के द्वारा ब्रह्म की उपासना कैसे करनी चाहिये इस विषय को कहूँगा। आशा है आप इसे दत्तचित्त होकर सावधानी के साथ श्रवण करने की कृपा करेंगे।"

छप्पय

कहीं अरुण निज पुत्र महामुनि उद्दालक प्रति।
ज्येष्ठ पुत्र कूँ पिता देइ गुरु शिष्य योग्य अति॥
अन्य अपात्रनि कबहुँ भूलि विद्या नहिँ देवे।
होवे चाहें धनी नहीं बदले कछु लेवे॥
धन धान्यनि तैं पूर्ण भू-सागर वेष्टित द्रव्य बहु।
देइ, अपात्रहिँ तऊ नहिँ, देवै मधुविद्या कबहु॥

गायत्री द्वारा परब्रह्म की उपासना

(१४०)

गायत्री वा इदँ सर्वं भूतं यदिदं किंच वाग्वै गायत्री
वाग्वा इदँ सर्वं भूतं गायति च त्रायते च ॥*

(छा० उ० ३ प्र० १२ खं० १ मं०)

छप्पय

गायत्री ये भूत चराचर सब गायत्री ।
सबई प्राणी वाक् वाक् गायत्री धात्री ॥
गान त्रान नित करै करै अति-क्रमन न कोई ।
भू यह पुरुष शरीर प्रान थिर तन में होई ॥
पुरुष देह अन्तः पुरुष-हिय निवसै नित प्रान है ।
गायत्री पट चार पद, मन्त्र रूप में ब्रह्म है ॥

गायत्री वेदों की माता है। गायत्री से बढ़कर कोई मन्त्र नहीं। यह अमूर्त परब्रह्म की मन्त्र मूर्ति है। गायत्री धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष पुरुषार्थ चतुष्टय को प्रदान करने वाली है। गायन करने वाले-अर्थात् जप करने वालों का त्राण-रक्षण-परिपालन करने वाली होने के कारण ही यह गायत्री कहलाती है। यह त्रिपदादेवी

---

* ये जो समस्त भूत वर्ग हैं, वह गायत्री ही है। ये जो चर-अचर प्राणी हैं, वे भी सब गायत्री ही हैं। निश्चय ही वाणी भी गायत्री ही है तथा वाणी से ही समस्त प्राणी हैं, गान करने से तथा सबका त्राण करने से ही यह गायत्री कही जाती है।

सभी छन्दों से श्रेष्ठतम है। तीनों वेदों से एक-एक पाद लेकर यह प्रकट हुई है। जो द्विजातिगण प्रवण तथा व्याहृतियों के साथ इसका जप करते हैं, वे सभी सिद्धियों को स्वतः ही प्राप्त कर लेते हैं।

गायत्री सभी छन्दों में श्रेष्ठ क्यों है, इस सम्बन्ध की ऐतरेय ब्राह्मण में एक कथा आती है।

एक बार देवताओं को सोम प्राप्त करने की इच्छा हुई। तब देवताओं ने गायत्री त्रिष्टुप् और जगती इन तीनों छन्दों को सोम लाने के निमित्त नियुक्त करके इनसे कहा—"तुम सोम को यहाँ ले आओ।"

देवताओं की आज्ञा पाकर तीनों छन्दें सोम को लाने के लिये चलीं, किन्तु जगती और त्रिष्टुप् इन दोनों ने सोचा—"हम सोम को कैसे ला सकेंगी, वहाँ पर सोम के बड़े-बड़े रक्षक रहते हैं, वे हमें सोम तक जाने भी न देंगे।" अतः हमारा समस्त प्रयत्न व्यर्थ हो जायगा।" यही सब सोचकर वे दोनों मार्ग के बीच से ही लौट आईं। केवल अकेली गायत्री ही सोम के समीप पहुँच सकी, वह सोम के रक्षकों से लड़ी। लड़ाई में उन सबको परास्त करके सोम को देवताओं के समीप लायी। इसीलिये यह छन्दों में सर्व श्रेष्ठ मानी गयी है।

गायत्री उदार तथा परोपकर प्रिया भी है। सोम लाने के निमित्त जब ये तीनों छन्दें गयी थीं तब जगती और त्रिष्टुप् ये दोनों असमर्थ होने के कारण बीच से ही लौट आयी थीं। अतः ये दोनों अपने-अपने कुछ अक्षर छोड़ आयी थीं। जगती छन्द के तीन अक्षर और त्रिष्टुप् का एक अक्षर रह गया था। इसकी पूर्ति गायत्री ने की। इसीलिये उष्णिक् के प्रत्येक पाद में ७-७

अक्षर होते हैं और अनुष्टुप् के प्रत्येक पाद में ८–८ अक्षर, किन्तु गायत्री के एक पाद में ६–६ अक्षर ही होते हैं।

यज्ञों में तीन सवन होते हैं। प्रातःसवन, मध्यन्दिन सवन और सायं सवन। प्रातःसवन गायत्र सवन है। अर्थात् प्रातः सवन के कार्य प्रायः गायत्री छन्द में सम्पन्न होते हैं। मध्याह्न सवन त्रैष्टुभ सवन है। उसके कृत्य त्रिष्टुप् छन्द में होते हैं। सायं सवन जागत सवन है, उसके कृत्य प्रातः जगती छन्द में होते हैं। गायत्री अक्षर दान करने के कारण त्रिष्टुप् और जगती में व्याप्त है, अतः वह तीनों ही सवनों में व्यापक है।

गायत्री सभी से उत्तम है। अठारह विद्याओं में मीमांसा शास्त्र श्रेष्ठ है। मीमांसा से तर्क शास्त्र श्रेष्ठ है। तर्क शास्त्र से पुराण श्रेष्ठ हैं। पुराणों से धर्म शास्त्र श्रेष्ठ हैं। धर्म शास्त्रों से वेद श्रेष्ठ हैं। वेदों में भी उपनिषद् श्रेष्ठ हैं। उपनिषदों से भी श्रेष्ठ गायत्री है। सूर्य और गायत्री में वाच्य वाचक सम्बन्ध है। वाच्य तो सूर्य हैं, उनकी गायत्री वाचिका है। जो इस गायत्री देवी की उपासना करता है उसे सूर्यलोक की प्राप्ति होती है, फिर क्रम से उसकी मुक्ति हो जाती है। गायत्री की उपासना से मनुष्य जो चाहे सो प्राप्त कर सकता है। जैसे आकाश सर्व रूप है, उसी प्रकार गायत्री भी सर्वरूपा है। भगवती श्रुति गायत्री की सर्वरूपता का वर्णन करती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! गायत्री सर्वरूपा है, इसके द्वारा ब्रह्म की कैसे उपासना करनी चाहिये इस बात को बताते हुए कहते हैं–ये जो समस्त चर-अचर, स्थावर-जंगम प्राणी हैं, जितने भी भूत वर्ग हैं सब गायत्री ही हैं। गायत्री के द्वारा परब्रह्म परमात्मा का ही निरूपण किया जाता है। यह वाङ्मय ब्रह्म है। वाक् ही गायत्री है। ये जो स्थावर जंगम प्राणी हैं ये भी वाक् ही

हैं। इन सबका गान नामोच्चारण गायत्री ही करती है। नाम निर्देश वाणी के बिना संभव नहीं और वाणी में और गायत्री में कोई भेद नहीं। यही भय से भी निवृत्त करती है, कोई आदमी दस्युओं द्वारा घेर लिया गया है। उससे दूर से कोई कहता है–घबराना नहीं हम आ रहे हैं। कोई जल में डूब रहा है, उससे परम भयभीत हो रहा है–कोई कहता है, डरिये नहीं हम नौका ला रहे हैं। कोई अर्थ संकट से–कन्या के विवाह न होने से भयभीत है। दूसरा कहता है—'सब प्रबन्ध हो जायगा चिन्ता मत करो।' तो वाणी ही भय से त्राण–रक्षा करती है और वाक् ही गायत्री है। अतः गान करने से और भय से त्राण करने के कारण ही यह गायत्री कहलाती है। इसी में गायत्री का गायत्रीत्व है। (गानात् त्राणात् च गायत्र्या गायत्रीत्वम ।)।"

गायत्री और पृथ्वी में अभेद है, जो गायत्री है, वही पृथ्वी है। जैसे पार्थिव प्राणी सभी पृथ्वी में ही स्थित रहते हैं, कोई भी मृत्युलोक का प्राणी पृथ्वी का अतिक्रमण नहीं कर सकता। जैसे पृथ्वी सर्वरूपा है वैसे ही गायत्री भी सर्वरूपा है।

पुरुष के शरीर में और पृथ्वी में भी अभेद है। जो पृथ्वी है वही पुरुष शरीर भी है। शरीर में ही प्राण स्थित रहते हैं। शरीर चाहे स्थूल हो, सूक्ष्म हो अथवा कारण हो। प्राण, शरीर के ही आश्रय से टिकते हैं। शरीर के बिना प्राण रह ही नहीं सकते। प्राण शरीर को नहीं त्यागते। एक से दूसरे में चले जाते हैं, वह भी सूक्ष्म शरीर के ही द्वारा। जैसे वायु अपने आधार का परित्याग नहीं करती। जैसे वायु निराधार नहीं रह सकती, वैसे ही प्राण शरीर के बिना नहीं रह सकते। शरीर का अतिक्रमण नहीं कर सकते।

शरीर और अन्तः पुरुष के हृदय में भी अभेद है। प्राण ...

पुरुष के हृदय प्रदेश में स्थित हैं। प्राण अन्तः पुरुष के हृदय प्रदेश में निवास करता है उसी में प्रतिष्ठत हैं। अतः प्राण अन्तः पुरुष के हृदय का अतिक्रमण नहीं कर सकता। अतः पृथ्वी गायत्री है वाक्-वाणी-गायत्री है, सभी भूत गायत्री है, शरीर गायत्री है, हृदय गायत्री है और प्राण गायत्री हैं। इन प्रकार गायत्री ६ प्रकार की है। यह चौबीस अक्षर होने से ६-६ अक्षरों का एक पाद मानने पर यह चतुष्पदा है। यह अमूर्त ब्रह्म की मन्त्रमयी मूर्ति है। यह गायत्र्य ब्रह्म गायत्री मन्त्र द्वारा प्रकाशित किया गया है।

यह गायत्र्य ब्रह्म जो मन्त्रमय है, इतनी ही इसकी महिमा है। जिस अमूर्त निर्विकार ब्रह्म की यह मन्त्र रूपा गायत्री है, इससे वह परब्रह्म उत्कृष्ट है। क्योंकि यह जो दृश्यमान जगत् है वह तो उनका एक ही पाद है। उसकी त्रिपाद विभूति तो दिवि में स्थित है वही अमृत है। यह जो जगत् है उसके एक अंश में स्थित हैं।

शौनकजी ने पूछा - "सूतजी ! क्या परब्रह्म का यह एक पाद रूप अंश-जगत्-उनकी त्रिपाद विभूति से भिन्न है ?"

सूतजी ने कहा—"भिन्न कैसे हो सकता है। जैसे घटाकाश, मठाकाश तथा महाकाश परस्पर में भिन्न से प्रतीत होने पर सर्वथा अभिन्न है। इसी प्रकार ब्रह्म के त्रिपाद् विभूति रूप अमृत से पुरुष से बाहर जो यह महाकाश दिखायी देता है, वह त्रिपाद् विभूति से अभिन्न है। और यह जो महाकाश है, उससे पुरुष के शरीर के भीतर का आकाश भी अभिन्न है और शरीर के भीतर के आकाश से हृदयाकाश अभिन्न है। यह हृदयाकाश परिपूर्ण है, कहीं भी प्रवृत्त न होने वाला है। जो पुरुष इस अभिन्नता को जानता है। त्रिपाद विभूति और जगत् संभूति की एकता का ज्ञान

रखता है, वह परिपूर्ण और कहीं भी प्रवृत्त न होने वाली सम्पत्ति को प्राप्त कर लेता है। अर्थात् उसके लिये कुछ भी अप्राप्य नहीं रह जाता। इस प्रकार यह गायत्र्य ब्रह्म ही गायत्री रूप से सब में व्याप्त हो रहा है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यह मैंने गायत्री की सर्वरूपता बतायी, अब आगे पञ्च प्राणों की उपासना के सम्बन्ध में आप सबसे कहूँगा।"

छप्पय

गायत्र्याख्यक ब्रह्म पुरुष उत्तम तातें है।
एक पाद सब भूत अमृत त्रयपाद कह्यो है॥
वह इस्थित दिवि माहिँ अमृत आकाश एक सब।
पुरुष देह—आकाश हृदय आकाश एक नभ॥
जो इन सबकी एकता, जाने सो परिपूर्ण है।
प्राप्ति करै सम्पत्ति सब, सब विधि ही सम्पूर्ण है॥

इति छान्दोग्य उपनिषद् के तृतीय अध्याय में
बारहवाँ खण्ड समाप्त।

पञ्चप्राणों की उपासना

[१४१]

तस्य ह वा एतस्य हृदयस्य पञ्च देवसुपयः स योऽस्य प्राङ्सुपिः स प्राणस्तच्चक्षुः स आदित्यस्तदेतत्तेजोऽन्नाद्य-मित्युपासीत तेजस्व्यन्नादो भवति य एवं वेद ॥*

(छा० उ० ३ प्र० १३ खं १ मं०)

छप्पय

पंच प्राण हैं देव पंच रवि, शशि मेघ अनल।
पचम है आकाश चक्षु श्रोत्रहु वाणी अरु॥
द्वार वायु मन पूर्वहु पश्चिम उत्तर दाक्षिन।
ऊर्ध्व दिशा ये पंच जानि जिनि करें उपासन॥
तेज, ओज, अन्नाद्य, श्री, यश, सुन्दरता कीर्ति वर।
जानि उपासन करें जे, ते पावें सुत वीर्य घर॥

शास्त्र का सिद्धान्त है। यह मानव देह परिपूर्ण देह है। इस देह को उत्पन्न करके ही ब्रह्माजी सन्तुष्ट हुए तथा अन्य देवों ने

---

* उस समय के पाँच अधिष्ठान भूत द्वाररूपी छिद्र हैं। इस हृदय भवन का जो पूर्व दिशावर्ती द्वार छिद्र है वही प्राण है वही चक्षु द्वार है आदित्य देवता है, वही तेज और अन्नाद्य भी है जो इस प्रकार उपासना करता है, वह तेजस्वी तथा अन्न को खाकर पचाने वाला नीरोग होता है।

इसे सुकृत-सुन्दरकृति-कहा। इस मानव शरीर रूप पिंड में वह सूक्ष्म रूप से सब कुछ है जो ब्रह्माण्ड भर में है।

विराट् पुरुष ही जीव रूप से सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ। यह अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैव तीन प्रकार का है। दश इन्द्रियाँ और मन अध्यात्म है, शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के पाँच विषय हैं ये ही अधिभूत है। तथा इन्द्रियों और अन्तःकरण के जो अधिष्ठातृ देव हैं यही अधिदैव है। इसमें जो प्राण हैं वे दश रूप से शरीर में विचरते हैं। हृदय ही इसमें मुख्य है। हृदय ही मानों भवन है। श्रोत्र, त्वक् , नेत्र, घ्राण और रसना ये पाँच ज्ञानेन्द्रिय हैं। पायु, उपस्थ, हाथ, पैर और वाणी ये कर्मेन्द्रियाँ हैं। मन बुद्धि, चित्त और अहंकार ये चार अन्तःकरण हैं। श्रोत्र इन्द्रिय के अधिष्ठातृदेव दिशा, प्राणों के वायु, नेत्र के सूर्य, रसना के वरुण घ्राण के अश्विनीकुमार, वाणी के अग्नि, हाथों के इन्द्र, पैरों के उपेन्द्र विष्णु, पायु के निऋ॑ति-मृत्यु-मन के चन्द्रमा, उपस्थ के प्रजापति, बुद्धि के ब्रह्मा, अहंकार के रुद्र, और चित्त के क्षेत्रज्ञ। अब यहाँ भगवती श्रुति पंच प्राणों की, हृदय भवन के पाँच छिद्र रूप जो द्वार हैं। उनकी उपासना का वर्णन करती हैं। नेत्र, श्रोत्र, वाक्, मन और वायु ये ही हृदय भवन के पाँच द्वार हैं। नेत्र श्रोत से सब ज्ञानेन्द्रियाँ, वाक से सब कर्मेन्द्रियाँ मन से अन्तः-करण और वायु से दशप्राणों का ग्रहण किया गया। आदित्य, चन्द्रमा, मेघ, अग्नि और आकाश ये ही पंच देव हैं। इन हृदय द्वारों में प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान की पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर और ऊर्ध्व इन दिशा द्वारों मे कैसे उपासना करे, इसी का वर्णन पञ्चप्राणों की उपासना में किया जाता है।

सूतजी कह रहे हैं—मुनियो ! पिछले प्रकरण में गायत्री संज्ञक

परब्रह्म को हृदयाकाश में उपासना करने को कहा गया है। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीन अवस्थाओं के तीन प्रकार के आकाश के भेद माने जाते हैं, वास्तव में तो आकाश एक ही है। किन्तु अवस्थाओं के अनुसार, सुविधा के लिये, समझने के लिये उसके तीन प्रकार बनाये हैं। जाग्रत अवस्था में जिस आकाश की हमें प्रतीत होती है, उस आकाश में रहते हुए तो हम नाना चिन्ताओं में, नाना दुःखों मे घिरे रहते हैं। स्वप्नावस्था में मन शरीरान्तर्गत आकाश में विचरण करता रहता है। शरीर के भीतर के आकाश में ही उसे संसार भर की वस्तुएँ दिखायी देती हैं। स्वप्नावस्था में जाग्रत की अपेक्षा दुःख की प्रतीति न्यून होती है और सुषुप्ति अवस्था में मन हृदयाकाश में विचरण करता है। वहाँ दुःख की प्रतीति ही नहीं होती। प्रगाढ़ निद्रा के समय मीठी-मीठी सुखानुभूति ही होती रहती है। जीव को उस अवस्था में न तो किसी प्रकार के भोग की ही इच्छा रहती है और न किसी प्रकार का स्वप्न ही दिखायी पड़ता है। प्रगाढ़ निद्रा में शरीर के मन के समस्त दुःखों की आधि और व्याधियों की निवृत्ति हो जाती है। वह एक प्रकार की समाधि का ही आनन्द है। अन्तर इतना ही है, कि सुषुप्ति अवस्था में मन का लय अज्ञान के सहित होता है, इसी लिये जागने पर दुःख की अनुभूति होती है। समाधि अवस्था में चित्त ज्ञान में लीन होता है, अतः समाधि से व्युत्थान होने पर भी उसे दुःख की अनुभूति नहीं होती।

उपासना द्वारा जब चित्त हृदयाकाश में समाहित कर लिया जाय, तो दुःखों की सर्वथा निवृत्ति हो जाती है, कारण कि पंच भूतों वाले आकाश की भाँति हृदयाकाश नाशवान् नहीं है, वह अविनाशी है अतः अविनाशी की उपासना से उसे अविनाशी पद प्राप्त हो जाती है वह जीवनमुक्त हो जाता है।

उस हृदयाकाश के पाँचों दिशाओं में पाँच द्वारपाल-पार्षद हैं। पार्षदों की पूजा करने पर इष्टदेव से भेंट तत्काल और सुगमता से हो जाती है, अतः हृदयान्तर्गत पाँचों दिशाओं के द्वारभूत पंच प्राणों से पहिले पूर्व दिशा के प्राण की उपासना बताते हैं।

हृदयरूप भवन का जो पूर्व दिशा का छिद्र है वह पाँच प्राणों में से मानों पहिला प्राण नाम का प्राण है, वही चक्षु है और वही आदित्य है और वही तेज तथा अन्नाद्य है। इस प्रकार इन सबको एक मानकर पूर्व दिशा के द्वारभूत प्राण की उपासना करनी चाहिये।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! इस बात को और स्पष्ट समझावें। नेत्र को आदित्य क्यों कहा, वह पूर्वदिशा में तेज और अन्नाद कैसे है?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् एतरेय उपनिषद् में पीछे बता चुके हैं, कि आदित्य नेत्र इन्द्रिय होकर आँखों के गोलक में प्रवेश कर गया। अतः आँखों का और सूर्य का तादात्म्य सम्बन्ध है। आँखें सूर्य के बिना देख नहीं सकतीं। आँखों में जो भी कुछ तेज है सूर्य का ही है। सूर्य ही अन्न को उत्पन्न करने वाले तथा पचाने वाले हैं। सूर्य पूर्वदिशा में ही उदित होते हैं। अतः पूर्व दिशा, सूर्य देव, चक्षु इन्द्रिय, तेज और अन्नाद्य ये सब एक ही हैं। इस प्रकार जो उपासक पूर्वदिशा के द्वारपाल रूप सूर्य को तेज और अन्न का भोक्ता जानकर नेत्र में उसकी उपासना करता है, वह तेजस्वी और खाये हुए अन्न को सम्यक् प्रकार से पचाने वाला नीरोग होता है। यह पूर्व द्वारपाल की प्राण उपासना कही, अब हृदय के दक्षिण द्वारवर्ती छिद्र श्रोत्र की व्यान रूप में उपासना को बताते हैं।"

हृदय भवन का जो दक्षिण दिशावर्ती द्वार है वह श्रोत्र है।

वही व्यान नाम वाला प्राण है वही श्रोत्र इन्द्रिय है, वही चन्द्रदेव है। वही श्री है और वही यश है। इस प्रकार जो इनमें तादात्म्य भाव मानकर उपासना करता है, वह साधक श्री सम्पन्न तथा यशस्वी होता है। यह दक्षिण दिशावर्ती व्यान की चन्द्रदेव के रूप में उपासना कही। अब पश्चिम दिशावर्ती द्वारपाल की उपासना सुनिये।

यह जो पश्चिम दिशावर्ती द्वार का छिद्र है, वह मुख में वाणी है, वही अपान नाम वाला प्राण है, वही अग्निदेव है, वही ब्रह्म तेज और अन्नाद्य है। जो उपासक इनकी तादात्म्य भाव से उपासना करता है ब्रह्मवर्चस्वी-तेजस्वी-और प्रचुर अन्न को खाकर पचाने वाला नीरोग होता है। यह पश्चिम दिशावर्ती द्वारपाल की उपासना हुई। अब उत्तर दिशावर्ती द्वारपाल की उपासना सुनिये।

यह जो हृदय भवन का उत्तर द्वार है वही समान नाम का प्राण है, वही मन रूप इन्द्रिय है, वही पर्जन्य-मेघ-देवता है और वही कीर्ति तथा व्युष्टि-शरीर की विशिष्ट कान्ति-है। जो उपासक ऐसा जानकर इनकी उपासना करता है, वह कीर्तिवान्, दीप्ति तथा कान्तिवान्-सुन्दर शोभायुक्त होता है। यह उत्तर दिशावर्ती द्वारपाल की उपासना हुई। इस प्रकार चारों दिशाओं की कहकर अब ऊर्ध्व द्वार की उपासना कहते हैं।

यह हृदय भवन का ऊपर का छिद्र है। वहाँ उदान नामक प्राण है, वही वायु है, वही आकाश देवता है, वही ओज और मह नाम का महान् तेज है। जो उपासक इसे जानकर इनकी तादात्म्य भाव से उपासना करता है, वह ओजस्वी-मनोबल वाला-तथा महान् तेजस्वी होता है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! हृदयाकाश रूप जो आनन्द भवन है, उसके सूर्य, चन्द्र, अग्नि, पर्जन्य और आकाश ये द्वार-

पाल हैं। इनकी उपासना का पृथक्-पृथक् फल तो बता चुके अब इन स्वर्गलोक के ब्रह्मपुरुष द्वारपालों की जो समवेत उपासना करता है, उस गृहस्थी उपासक के कुल में वीर पुत्र उत्पन्न होता है। जो इन सबके रहस्य को जानकर इनकी उपासना करता है, वह स्वर्गलोक को प्राप्त होता है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यह मैंने पाँचों दिशाओं के पंचप्राण रूप पंचदेवों के हृदय भवन के पाँचों द्वारपालों की उपासना कही। अब हृदयस्थित मुख्य ब्रह्म की उपासना का वर्णन आगे करूँगा।

छप्पय

चक्षु, श्रोत्र अरु वाक प्राण मन पंच पुरुष जो।
द्वारपाल ये स्वरग दिशा पाँचनि में बसि सो॥
हृदय माहिँ थित ब्रह्म प्राप्त इनि द्वारा होवै।
करिकें इन्हें अधीन ब्रह्मकूँ साधक जोवै॥
इनकी करिकें उपासन, स्वर्गलोक पावें पुरुष।
विश्वभूत इक पाद यह, तीन पाद दिविमें निवस॥

हृदय में स्थित ब्रह्म की उपासना

(१४२)

अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिः ॥*

(छां० उ० ३ अ० १३ खं० ७ म०)

छप्पय

परम ज्योति दिवि पार कही सर्वोत्तम मुनिवर ।
विश्व पृष्ठ पर ज्योति प्रकाशित सब तैं ऊपर ॥
अन्तः पुरुष हिँ मध्य रहै वह ज्योति प्रकाशित ।
होहि उष्णता देह परसि के सब जन निरखत ॥
आत्मा जब तक देह में, रहै उष्णता तब तलक ।
कान मूँदि अनहद सुनैं, उठे गिरैं तब तक पलक ॥

उपासना, भजन पूजन चार प्रकार के लोग करते हैं । आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी । किसी दुःख से दुखी होकर उस दुःख की निवृत्ति के निमित्त के भगवान् की जो उपासना करते

---

* तदनन्तर इस दिवि लोक से परे ज्योति प्रकाशित हो रही है, वह विश्व के पृष्ठ पर है जो विश्व के परे अनुत्तम लोकों में प्रदीप्त है, वह ज्योति वही है जो अन्तः पुरुष के भीतर ज्योति है ।

हैं, वे आर्त साधक कहाते हैं। किसी कामना की प्राप्ति के निमित्त जो उपासना करते हैं वे अर्थार्थी साधक होते हैं। ब्रह्म क्या है, जगत् क्या है इन प्रश्नों की जिज्ञासा से जो उपासना करते हैं, वे जिज्ञासु साधक हैं। ज्ञान हो जाने पर भी–निर्गुण ब्रह्म मे परिनिष्ठित होने पर भी–भगवान् के महान गुणों से उनकी अलौकिक सरल लीलाओं से आकृष्ट होकर जो सगुण साकार ब्रह्म की उपासना करते हैं, वे ज्ञानी साधक कहलाते हैं। ये सभी श्रेष्ठ हैं, सभी सुकृति हैं।

कामनायें पूर्व जन्म के संस्कारों के कारण हृदय में उत्पन्न होती हैं। उन कामनाओं की पूर्ति के निमित्त अधर्म न करके धन-दुर्मदन्धों की शरण न जाकर जो भगवान् की शरण जाते हैं। वे सकाम साधक भी श्रेष्ठ हैं। वास्तव में सकाम उपासना करते-करते निष्कामता की ओर बढ़ जाते हैं। जब तक इस लोक के भोगों के प्रति तथा परलोक के दिव्य भोगों के प्रति वैराग्य नहीं होगा, तब तक निष्कामता कैसे आ सकती है, बिना निष्कामता के मोक्ष की–सर्वोत्तम–सर्वोत्कृष्ट लोक की–प्राप्ति कैसे हो सकती है।

भुवर्लोक से ऊपर के जितने लोक हैं, सभी की स्वर्ग संज्ञा है। एक तो देवताओं के रहने का देवेन्द्र वाला लोक स्वर्ग कहलाता है। जहाँ विमान हैं, अमृत है, नन्दन कानन है, अप्सरायें हैं सभी दिव्यभोग हैं, किन्तु वह स्वर्ग क्षयिष्णु है, निर्भय नहीं। निर्दोष नहीं। वहाँ भी सातिसय दोष तथा ईर्ष्यादि हैं। पुण्य क्षीण होने पर पतन का भय बना रहता है।

दूसरा भय रहित स्वर्ग है। उसे वैकुण्ठ, साकेत, मोक्ष स्थान, भगवत् लोक कुछ भी कहलो। वह सुख स्वरूप है, प्रकाश रूप है, मोक्ष का स्थान है, निर्भय पद है। वहाँ मृत्यु की दाल नहीं गलती मर्त्य धर्म से–पतन से–रहित स्थान है। वहाँ जरा

व्याधि नहीं, चिन्ता नहीं, दुःख नहीं, बुभुक्षा, पिपासा, ईर्ष्या, द्वेष से रहित लोक है। वह सत्य सनातन चिन्मय धाम है। वहाँ आनन्द ही आनन्द है। आनन्द के अतिरिक्त कुछ भी वहाँ नहीं। वहीं परम पुरुषार्थ है, वही मोक्ष है, वही आवागमन से रहित पद है।

कार्मकांड की जितनी सकाम क्रियायें हैं वे सब स्वर्ग प्राप्ति के ही निमित्त हैं। वेद का भी वचन है 'स्वर्ग की कामना से ही अश्वमेध यज्ञ करना चाहिये। जिस हृदय में भोग वासनायें विद्यमान हैं, वहाँ मोक्ष प्राप्ति की इच्छा हो ही नहीं सकती, अतः समस्त सकाम उपासनायें वासनाक्षय के निमित्त स्वर्गादि उत्तम लोकों की प्राप्ति की ही निमित्त होती हैं। जब इन दिव्य भोगों को भोगते-भोगते चित्त ऊब जाय, इनसे वैराग्य हो जाय, तब हृदय में निष्कामता आती है, तभी साधक मोक्ष का अधिकारी बनता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! हृदयाकाश भवन के आदित्य, चन्द्रमा, अग्नि, पर्जन्य और आकाश इन पाँच द्वारपालों की उपासना तथा उसका फल बताकर, अब द्युलोक से भी परे परम ज्योति स्वरूप जो मुख्य ब्रह्म है। परब्रह्म है, उसकी उपासना बताते हैं। उस परात्परतर स्वर्ग का वर्णन करते हुए कहा गया है। वह विश्व के पृष्ठ पर अवस्थित है। अर्थात् वह समस्त लोकों की परिधि है। उत्तमता का आधार है। सुख का अन्तिम आलय है। उससे परे न कोई लोक है और उससे उत्तम न कोई स्थान है। वह सर्वोच्च स्थान है। उससे ऊँचा, उससे ऊपर कोई अन्य लोक नहीं। जो ज्योति हृदय स्थित पुरुष के मध्य है वही ज्योति उस परब्रह्म में है। वह चतुष्पाद ब्रह्म है। एक पाद में तो यह सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड अवस्थित है। तीन पाद उसके उस दिव्य स्वर्ग में अवस्थित हैं। अतः सकाम उपासना से तो अमरों के

रहने के स्वर्ग की प्राप्ति होती है और निष्कामभाव से उपासना करने से उस त्रिपाद् विभूति वाले निर्मल, निष्कल, अनन्त सुखार्णव आनन्दमयलोक की प्राप्ति होती है। उस परम ब्रह्म की अनुभूति इस शरीर में ही होती है। इसका अनुभव स्पर्श द्वारा होता है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! स्पर्श द्वारा उस परम ज्योति का अनुभव कैसे होता है ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! हम शरीर को स्पर्श करके यह द्वारा बता देते हैं, कि यह शरीर मृतक है या जीवित। जो हमें स्पर्श उष्णता का भान कराता है, वह उष्णता रूप ज्योति उसी परब्रह्म की है। यही उसका दर्शनोपाय है। वह ज्योति श्रवणीय भी है।"

शौनकजी ने पूछा—"उस ज्योति को सुना कैसे जा सकता है ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! खुले हुए कानों से तो संसार के इन बाह्य शब्दों को ही सुनते हैं। भीतर का शब्द सुनायी नहीं देता। आप अपने दोनों कानों के छिद्रों को कसकर बन्द कर लीजिये, जिससे बाहर का एक भी शब्द सुनायी न दे। तब भीतर का अनहद शब्द सुनायी देगा। पहिले निनद सुनायी देगा। रथ की घरघराहट के सदृश स्वर को निनद कहते हैं। फिर आपको नदथु शब्द सुनायी देगा। बैल जिस प्रकार डकराता है उसे निदथु कहते हैं। फिर जलती हुई अग्नि में जैसा शब्द होता है, वैसा शब्द सुनायी देगा। इस प्रकार स्पर्श द्वारा यह दृष्ट है और कानों को बन्द करके चक्षुओं को मींचकर अनहद के रूप में वह श्रुत भी है। जो इस प्रकार एकाग्रचित्त होकर बाहर से चित्त की वृत्तियों को हटाकर उस भीतर के अनहद शब्द में ही मन को लीन करता है। जो इसका निरन्तर अभ्यास करता रहता है।

वह परम दर्शनीय और विश्रुत परम विख्यात होता है, उसकी समता किसी से की ही नहीं जा सकती। यह मैंने हृदयस्थित परब्रह्म की उपासना कही। अब शाण्डिल्य विद्या के अन्तर्गत जैसे सभी दृष्टियों से सर्वव्यापक, सर्वसमर्थ ब्रह्म की उपासना की जाती है, उसका वर्णन आगे करूँगा।"

छप्पय

भीतर के जो शब्द निनद नदथु हु कहलावें।
रथ के घोष समान नदथु ज्यों वृष डकरावें॥
अग्नि जरन सम शब्द कान करि बन्द सुनावें।
ज्योति दृष्ट श्रुति कही, उभय एकहिं कहलावें॥
करै उपासन ब्रह्म की, हृदयमाहिं जो थित रहत।
दर्शनीय साधक परम, होवे जग विख्यात अति॥

सभी में ब्रह्म की उपासना

[१४३]

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत ॥*

(छा० उ० ३ म० १४ ख०, १ म०)

छप्पय

सब जग ब्रह्म स्वरूप ब्रह्म ही जगत लखावै।
जाही में उत्पन्न रहै जामें मिलि जावै॥
शान्त उपासन करै पुरुष क्रतुमय कहलावै।
जिहि जस निश्चय होइ अन्त में सो बनि जावै॥
ब्रह्म मनोमय प्रान तन, दीप्तिरूप संकल्प सत।
सर्व कर्म-आकाश तन, सर्वकाम रस गन्धयुत॥

पुरुष जैसी उपासना करता है, मरकर वह वैसा ही हो जाता है। मनुष्य के कर्मों को देखकर तीन जन्मों का अनुमान लगाया

---

* निश्चय करके यह जो सर्व जगत् है, वह ब्रह्म ही है। जगत् ब्रह्म से ही उत्पन्न होता है, ब्रह्म में ही लय हो जाता है और ब्रह्म मे ही चेष्टावान् है। उस ब्रह्म की सर्व दृष्टि से, शान्त भाव से उपासना करे। यह पुरुष क्रतुमय है। इस लोक में पुरुष जैसी भावना वाला होता है, मरकर वह वैसा ही होता है, अतः उस पुरुष को सक्रतुं—निश्चयात्मक भाव से निश्चय कर लेना चाहिये।

जाता है। जो सुन्दर सत्कुलोद्भव है, कुलीन है स्वस्थ है रोग रहित है सदा शुभ कर्मों में ही संलग्न रहता है, उसे देखकर अनुमान लगाते हैं, कि पूर्वजन्म में इसने पुण्य किये होंगे, इसीलिये इसका जन्म उच्चकुल में हुआ है, कुशल कर्म करता रहता है। मरकर इसकी सद्गति होगी पुण्य लोकों को प्राप्त होगा।

जो स्वभाव से क्रूर है, दूसरों की निन्दा करता रहता है, अकुलीन है, नाना रोगों से ग्रस्त है, नाना अभावों से युक्त है, कामी, क्रोधी, लालची है, सदा दूसरों के अनिष्ट की ही चिंता करता रहता है, उसे देखकर अनुमान किया जाता है, पूर्वजन्मों में इसने दुष्कृत कर्म किये होंगे, इसी से इसका स्वभाव क्रूर है और पर अपकार में इसकी प्रवृत्ति है। निन्द्य कर्म करने से मरकर इसे नरकों में जाना पड़ेगा, पाप योनि प्राप्त होगी।

कुछ लोग भाग्यवश सम्मानित, प्रतिष्ठित प्रसिद्ध हो जाते हैं, किन्तु वे क्रूर कर्म करने में प्रवृत्त रहते हैं, तो अनुमान लगाते हैं, पूर्वजन्म के इसके सुकृत हैं, इससे धन, वैभव सम्मान प्राप्त है, किन्तु इस समय दुष्कृत कर्म कर रहा है, इससे अगले जन्म में इसकी दुर्गति होगी।

भगवान् तो सर्वमय हैं, जो उस प्रभु की जैसी उपासना करेगा, मरकर वह वैसा ही हो जायगा। क्योंकि यह पुरुष उपासना प्रधान है। जो काम की उपासना करेगा, वह मरकर कामी होगा। जो क्रोध की उपासना करेगा, वह क्रोधी हो जायगा। जो लोभ की उपासना करेगा, वह यत्तवित्त लोभी हो जायगा, जो पुण्य की उपासना करेगा, वह पुण्यात्मा हो जायगा, जो देवता की उपासना करेगा, वह देवमय हो जायगा।

सभी देवों के पृथक् पृथक् लोक हैं। तुम शिव की उपासना करोगे, शिव लोक को प्राप्त होगे विष्णु की उपासना करोगे,

विष्णुलोक को प्राप्त होगे। भूत, प्रेत, यक्ष राक्षसों की उपासना करोगे तो उनके उन-उन लोकों को प्राप्त होगे।

परोपकार निरत, जीवों के दुःख से दुखी होकर अवतार लेने वाले महापुरुष आचार्यों का भी अपना एक लोक बन जाता है। उन आचार्यों के अनुयायी उस लोक को प्राप्त होते हैं। जब ब्रह्माजी की मुक्ति होती है, उनके साथ उन आचार्यों की और उनके अनुगत भक्तों की भी मुक्ति हो जाती है।

जो दम्भी कपटी, पापाचारी छद्म वेष वाले आचार्य नामधारी, वेषधारी पुरुषों से प्रभावित होकर उनके अनुयायी बन जाते हैं, उनके दंभी नेता को जो नरक प्राप्त होते हैं उन्हीं में उनके अनुयायी भी जाते हैं।

इस लोक में जो व्यक्ति जैसा कर्म करने वाला होता है। अपनी भावना तथा संकल्प के अनुसार जन्मान्तर में वह वैसा ही होता है, जो इस जन्म मे साधु आचरण करता है, वह अगले जन्म में साधु होता है, जो पापाचरण करने वाला है वह मर कर पापी होता है।

चित्त तो गीली मिट्टी के सदृश है, इसमें जैसी आकृति का संकल्प करोगे वैसी ही बन जायगी। सुवर्ण में जैसा संकल्प करोगे वैसे ही आभूषण बन जायँगे। मरते समय जिन-जिन भावों का स्मरण करके मरोगे, वे ही वे भाव प्राप्त हो जायँगे। इस सम्बन्ध की एक बहुत ही सुन्दर कथा है।

एक भौतिक विज्ञानवादी दार्शनिक था, उसकी एक पुरोहित से मित्रता थी। भौतिक विज्ञानवादी की मान्यता थी, ईश्वर कोई वस्तु नहीं है। जो भी कुछ है, कर्म है, पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ करके जो आदमी जैसा भी चाहे बन सकता है।

पुरोहित कहता था—तुम ईश्वर को नहीं मानते हो, नरक में आओगे। तुम्हें नरक की प्राप्ति होगी।

भौतिक पुरुषार्थ वादी कहता—हमें नरक स्वर्ग की अपेक्षा नहीं। नरक स्वर्ग हमारे लिए दोनों बराबर हैं। हम तो पुरुषार्थ की उपासना करते हैं, पुरुषार्थ ही सब कुछ है।"

कुछ दिन पश्चात् भौतिक पुरुषार्थ वादी विज्ञानी की मृत्यु हो गयी। पुरोहित ने सोचा—निश्चय ही बेचारा नरकों की अग्नि में पच रहा होगा ?

इसके कुछ काल के अनंतर पुरोहित की भी मृत्यु हुई। वे सदाचारी धर्म भीरु ईश्वर पर विश्वास रखने वाले थे। देवदूत उन्हें स्वर्ग को ले जा रहे थे। तब उन्हें अपने उस नास्तिक भौतिक विज्ञानी की याद आयी। उन्होंने देवदूतों से कहा—मार्ग में नरक पड़ता है, हमें अमुक भौतिक विज्ञानी के समीप होते हुए ले चलो।"

देवदूतों ने उनकी बात मान ली, वे पुरोहित को भौतिक विज्ञानी जहाँ रहते थे, वहाँ ले गये। पुरोहित के आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जिसे वे नरक की भट्टी में जलता हुआ कल्पना कर रहे थे वह तो सुन्दर स्वर्ग में सुख भोग रहा है।

फलों से लदे सुन्दर वृक्ष लगे हैं। स्वच्छ सुन्दर छायादार वृक्षों से युक्त सुगन्ध युक्त सड़कें हैं। स्वच्छ शुभ्र सजे सजाये सुख सुविधापूर्ण सामग्रियों से सम्पन्न सुन्दर भवन हैं। उनमें वैज्ञानिक अपने अनुयायियो सहित सुखपूर्वक विचारण कर रहे हैं।

पुरोहित को देखकर वे खिल उठे, प्रेमपूर्वक उनका स्वागत किया। पुरोहित ने कहा—"आप और स्वर्ग में ? महान् आश्चर्य !!

तब तो सभी हमारे धर्म शास्त्र झूठे हैं। तब तो हमारी मान्यतायें असत्य हैं।"

हँसते हुए वैज्ञानिक ने कहा—"तुम्हारी मान्यता तुम्हारे लिये सत्य ही हैं। मेरी मान्यता मेरे लिये सत्य हैं। आप जानते ही हैं, मैं तो ईश्वर पर, उसके बनाये स्वर्ग नरक पर विश्वास नहीं करता। मैं तो कर्म पर अपने पुरुपार्थ पर ही भरोसा रखने वाला हूँ। यह स्थान पहिले नरक का ही एक अंग था। हम जब आये तो दुर्गन्धयुक्त मैले पानियों की नालियाँ बह रही थीं, ऊबर-खाबर कंकरीली-पथरीली भूमि थी, कोई पेड़ नहीं था, स्थान-स्थान पर ज्वालामुखी पर्वत थे जिनसे आग निकलती रहती थी, कोई भवन नहीं था। हम लोग अपने अनुयायियों सहित आते ही पुरुपार्थ में जुट गये। पहाड़ खोदकर कोयले निकाले, वाष्प बनायी, यन्त्र निर्माण किये, गन्दी नालियों को स्वच्छ किया, यन्त्रों द्वारा भूमि को सम किया। पहाड़ के पत्थरों को पीसकर पकाकर वज्र लेप तैयार किया, भवन बनायें। सड़कों का निर्माण किया, दूर से स्वच्छ सुन्दर जल का श्रोत ले आये। बीज लाकर बगीचा लगाया। सड़कें निर्माण कीं। यह जो आप देख रहे हैं हमारे सतत कर्म का ही प्रतिफल है। हमने अपने पुरुपार्थ से नरक को स्वर्ग में परिणित कर लिया है।"

तब पुरोहित ने गीता के इस भगवद् वाक्य का यथार्थ अर्थ समझा कि "(ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्)" भगवान् कहते हैं जो मुझे जिस भाव से भजता है उसे मैं उसी भाव से भजता हूँ। पुरुपार्थी को पुरुपार्थ रूप में, भक्त को भगवान् रूप में, ज्ञानी को ज्ञानरूप में, निर्गुण को निर्गुण रूप में और सगुण को सगुण रूप में मैं प्राप्त होता हूँ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! हृदय में स्थित ब्रह्म की उपासना

कहकर अब जगत् रूप में सर्वदृष्टि से परब्रह्म को उपासना बतायी जाती है। यह सम्पूर्ण ब्रह्म ही है। जैसे जल ही जमकर हिम हो गया है। जैसे दूध ही जमकर दही बन जाता है। जैसे सुवर्ण ही नाम रूपों के भेद से आभूषणों का रूप रख लेता है। जैसे वायु ही शरीर के भीतर प्राण अपानादि रूपों में परिणित हो जाती है, वैसे ही ब्रह्म ही जगत् रूप में प्रतीत हो रहा है। जैसे गीली मिट्टी से ही हाथी घोड़ा, ऊँट, बछेड़ा बन जाते हैं, फिर वे ही उन रूपों में स्थित होते हैं, अन्त में वे बिगड़कर फिर गीली मिट्टी के रूप में ही परिणित हो जाते हैं। वैसे ही यह जगत् ब्रह्म से ही उत्पन्न होने वाला है, उसी में अन्त में विलीन होने वाला है और उसी में नाना भाँति की चेष्टा-सा करते हुए प्रतीत होने वाला है। इसलिये उपासना के लिये अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं। किसी सप्तम आकाश में बैठे हुए ब्रह्म के पास में जाने की आवश्यकता नहीं। इस जगत् की ही ब्रह्मरूप से, शान्तभाव से, राग और द्वेष इनसे रहित होकर उपासना करे। क्योंकि यह पुरुष संकल्पमय है, क्रतुमय है, भावनामय है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी क्रतु क्या ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! क्रतु शब्द अनेक अर्थों में व्यवहृत होता है। क्रतु शब्द के यज्ञ, यूपसहित सोम साध्य यज्ञ, विष्णु, संकल्प, आदि अनेक अर्थ हैं। यहाँ क्रतु शब्द संकल्प के अर्थ में है। जिस विषय में अत्यन्त रुचि होती है उसे कामना कहते हैं, वही कामना जब प्रबल हो जाती है, उस कामना की पूर्ति के लिये जो प्रयत्न करने का प्रबल विचार है उसे ही क्रतु या दृढ़ संकल्प कहते हैं। मनुष्य जैसा संकल्प करता है, वैसा ही हो जाता है। यही नहीं इस लोक में तो संकल्पानुसार दृढ़ निश्चयी हो ही जाता है, यहाँ से मरकर जाने पर भी व्यक्ति अपने संकल्प

के ही अनुसार होता है। अतः वह कौन-सा ब्रह्म है उसका दृढ़ निश्चय पहिले से ही कर ले।"

शौनकजी ने पूछा—"कैसे ब्रह्म का निश्चय करे। उसके कुछ लक्षण तो बताइये। बिना गुण जाने निश्चय कैसे करें।"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! वह तो गुण रहित है। वह तो अनिर्वचनीय है। साक्षात् गुण उसमें कहाँ। फिर भी उपासना के लिये उसमें गुणों का आरोप किया जाता है। कुछ लक्षण भगवती श्रुति बताती है। वह मनोमय है।"

मनोमय—जो मन के सदृश हो, जीवात्मा मनके ही द्वारा सब विषयों का मनन करता है। अपने निज के स्वभाव से वह संसार में प्रवृत्त होता है, जैसे मन स्वभावानुसार विषयों में प्रवृत्त होता है। मन जिस विषय को चाहता है, उसमें प्रवृत्त हो जाता है, जिसे नहीं चाहता, जो उसे भाती नहीं, अच्छी नहीं लगती उसविषय से निवृत्त हो जाता है। इस प्रकार वह परब्रह्म भी मनोमय है। मनोमय के साथ वह प्राणशरीर भी है।

प्राणशरीर—उस परब्रह्म का प्राणमय शरीर है। अर्थात् इस जगत् को प्राण ही धारण करते हैं। जगत् का अधार प्राण ही है। उस प्राण का भी आधारभूत प्राण परमात्मा है। जो प्राण है वही प्रज्ञा है और जो प्रज्ञा है वही प्राण है। दोनों में तादात्म्य-सम्बन्ध है। शरीर तीन प्रकार के होते हैं। स्थूल, सूक्ष्म और कारण लिङ्गशरीर ही कारण भूत है। विज्ञानशक्ति क्रियाशक्ति मिलकर ही लिङ्गशरीर का निर्माण करती हैं। उसे लिङ्गशरीर कहो, प्राण कहो एक ही बात है। यही जगत् का आधार प्राण उस परब्रह्म का शरीर है। अर्थात् वह जगदाधार स्वरूप है। यह लिङ्गशरीर ही आत्मा द्वारा नाना देहों में ले जाया जाता है। इस प्रकार वह ब्रह्म

प्राण रूप से सभी के हृदय प्रदेश में निवास करता है मनोमय प्राणशरीर होने पर भी भारूप है।

भारूप—भा कहते हैं दीप्ति को। भा कहो प्रभा कहो, दीप्ति कहो एक ही बात है। अर्थात् चैतन्य स्वरूप है। वह अपनी कान्ति से, तेज से, प्रभा से तथा दीप्ति से स्वयं प्रकाशित हो रहा है। उसे सूर्यादि अन्य किसी भी प्रकाश की अपेक्षा नहीं। भारूप होने पर वह सत्यसंकल्प है।"

सत्यसंकल्प—संकल्प कहते हैं कार्य करने के दृढ़ निश्चय को। जीव नाना संकल्प करता रहता है, कोई संकल्प उसका पूरा हो जाता है, कोई अधूरा रह जाता है। कोई सर्वथा होता ही नहीं। उसका संकल्प मोघ व्यर्थ हो जाता है, किन्तु परमात्मा का अमोघ संकल्प हैं। उनका संकल्प कभी व्यर्थ नहीं जाता। संकल्प किया नहीं, कि वह तत्क्षण पूर्ण हो जाता है। उनका एक भी संकल्प असत्य नहीं होता इसीलिये वे सत्यसंकल्प कहलाते हैं। इस प्रकार वे परब्रह्म मनोमय, प्राणशरीर, भारूप तथा सत्य-संकल्प हैं। साथ ही आकाशात्मा हैं।

आकाशात्मा—आकाश का कोई रूप नहीं है। किसी भी ऐसे स्थान की कोई भी कल्पना नहीं कर सकता, जहाँ आकाश न हो। आकाश सूक्ष्मातिसूक्ष्म है, सर्वव्यापक तथा अरूप है। ये सब गुण परब्रह्म में होने से उसे आकाशात्मा कहा जाता है। वह परब्रह्म मनोमय, प्राणशरीर, भारूप, सत्यसंकल्प और आकाशात्मा होने के साथ ही सर्वकर्मा भी है।

सर्वकर्मा—सर्व शब्द का अर्थ है विश्व। यह सम्पूर्ण विश्व ही सकल या सर्व है। इसे सकल, निखिल, अशेष, समस्त, अखिल, समग्र, अखण्ड, पूर्ण कुछ भी कह लो। इस चराचर जगत् को जो करने वाला—बनाने वाला—हो वही सर्वकर्मा कहलाता है।

यह जगत् परब्रह्म से ही उत्पन्न होता है, परब्रह्म मे ही स्थित रहता है और अन्त में परब्रह्म में ही विलीन हो जाता है, अतः वे सर्वकर्मा इस नाम से कहे जाते हैं। परब्रह्म मनोमय, प्राणशरीर, भारूप, सत्यसंकल्प, आकाशात्मा तथा सर्वकर्मा होने के साथ ही सर्वकाम हैं।

सर्वकाम—काम शब्द का अर्थ है इच्छा। अर्थात् ससार भर की इच्छा का केन्द्र परमात्मा है। उनकी इच्छा के बिना पत्ता भी नहीं हिल सकता काम वर को भी कहते है। परमात्मा सभी प्रकार के वरदान देने में समर्थ है। मनोरथ को भी काम कहते हैं। परब्रह्म सर्वमनोरथ हैं। उनका कोई भी मनोरथ विफल नहीं होता। काम शब्द संहारकर्ता शिवजी के लिये तथा पालनकर्ता विष्णु के लिये भी आता है। अतः सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय इन सबके कर्ता परब्रह्म परमात्मा ही हैं। काम शब्द कुसुमायुध कामदेव के लिये भी आता है, अतः भगवान् ने गीता में स्वयं कहा है। प्राणियों में धर्म से अविरुद्ध काम मैं ही हूँ। काम के जितने भी अर्थ हैं, उन सबके विशेष्य परब्रह्म ही हैं। इसीलिये वे सर्वकाम हैं। अतः मनोमय, प्राणशरीर, भारूप, सत्यसंकल्प, आकाशात्मा, सर्वकर्मा और सर्वकाम होते हुए भी वे सर्वगन्ध हैं।

सर्वगन्ध—गन्ध कहते हैं आमोद को सुगन्ध को। केवल गन्ध शब्द आमोद का वाचक है। उसमें सु तथा दुर् लगाने से वह सुगन्ध दुर्गंध के अर्थ में व्यवहृत होता है। गन्ध गुण पृथ्वी का है। इसीलिये भगवान् ने कहा है, पृथ्वी में मैं पुण्यगन्ध हूँ। पुण्यगन्ध भगवत् विभूति है। और समस्त आमोद-प्रमोद जिनसे ही हों उन्हें सर्वगन्ध कहते हैं। अतः भगवान् मनोमय, प्राणशरीर, भारूप, सत्यसंकल्प, आकाशात्मा, सर्वकर्मा, सर्वकाम और सर्वगन्ध होते हुए भी सर्वरस हैं।

सर्वरस—जिसका जिह्वा ओठ द्वारा आस्वादन किया जाय उसे रस कहते हैं। अनेक प्रकार के रस होते हैं। कटु, अम्ल, तिक्त, मधुरादि ६ रस खाने के हैं। शान्त, दास्य, वात्सल्य, सख्य तथा मधुर ये पाँच रस भक्ति के हैं। शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्‌भुत तथा शान्त ये ९ रस साहित्य के हैं। वे परमात्मा सभी रसों के आधार हैं। समस्त रस उन्हीं द्वारा होते हैं। इसलिये वे सर्वरस हैं। इस प्रकार मनोमय, प्राणशरीर, भारूप, सत्यसंकल्प, आकाशात्मा, सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगन्ध तथा सर्वरस इन नौ विशेषणों से युक्त इन लक्षण वाले परब्रह्म सम्पूर्ण जगत् को सब ओर से व्याप्त किये हुए हैं। अर्थात् तृण से ब्रह्मा पर्यन्त कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं जो इनकी परिधि के बाहर हो। सब पर इनका प्रभुत्व है। और विशेषता यह है, कि अवाकी है। अर्थात् वाक् रहित है।

अवाकी—हम लोग वाणी–वाक्–द्वारा अपने भावों को व्यक्त करते हैं, किन्तु परब्रह्म परमात्मा बिना वाणी के ही अपने भावों को व्यक्त करने में समर्थ है। वाक् तो यहाँ उपलक्षण मात्र है। वाक् से समस्त इन्द्रियों का ग्रहण करना चाहिये। अर्थात् उसके पैर नहीं हैं फिर भी वह बड़े वेग से चलता है, हाथ नहीं हैं फिर भी वह सब वस्तुओं को ग्रहण करने में समर्थ है, उसके नेत्र नहीं है, किन्तु सबको देखने की सामर्थ्य रखता है, उसके कान नहीं है, किन्तु सब कुछ सुन लेता है। ऐसे ही वाणी के बिना अपने समस्त भावों को व्यक्त करता है। इतना होने पर भी वह अनादर है।

अनादर—अर्थात् असम्भ्रम–आग्रह रहित है। जो कृपण है, जिसे सन्देह है वह किसी कार्य के लिये आग्रह करता है। जो उदार है आप्तकाम है, उसे किसी भी विषय में आग्रह करने की

आवश्यकता नहीं। आदर शब्द का अर्थ आरम्भ भी होता है। परमात्मा अनारम्भी है। वे किसी नयी वस्तु का आरम्भ नहीं करते। उनके लिये कोई भी वस्तु नयी नहीं। सभी पुरानी हैं, वे पुराण पुरुष हैं। जब सब पुरातन हैं, तो आरम्भ क्या करें। आदर शब्द का अर्थ सम्मान भी है। जो अपने से कोई बड़ा हो वह आदर सम्मान करे। आदर सदा दूसरे करते हैं। परमात्मा के अतिरिक्त दूसरा कोई है ही नहीं, अतः उनमें आदर-अनादर की कल्पना ही नहीं। वे सब प्रकार के आदर-सत्कारों से रहित होकर स्वयं शोभायमान हैं।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो निर्गुण निराकार लक्षणातीत परब्रह्म के कुछ लक्षण विशेषण भगवती श्रुति ने कहे। अब दूसरी प्रकार से ब्रह्म का निर्वचन करेंगे। ब्रह्म सबसे छोटे से छोटा भी है और सबसे बड़े से भी बड़ा है और हृदयस्थ ब्रह्म और परब्रह्म एक ही है। इस विषय का निरूपण आगे किया जायगा।"

छप्पय

करि सब जगकूँ व्याप्त जगत उन माहिँ विराजत।
वाक् रहित नहिँ करन करम सब इन्द्रिनि साधत॥
आग्रह कर्मनि नहीं असंभ्रम रहित अनादर।
स्वतः तृप्त जो नित्य कामना रहित निरन्तर॥
हृदयकमल के मध्य में, सरसौं जौ श्यामाकतैं।
धान समा सरसों हु तैं, सूक्ष्म सूक्ष्मतम मापतैं॥

ब्रह्म बड़े से बड़ा तथा छोटे से छोटा है

[१४४]

एष म आत्मान्तर्हृदयेऽणीयान्व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद् वैष म आत्मान्तर्हृदये ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान् दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः ॥*॥

(छा० उ० ३ प्र० १४ खं ३ म)

छप्पय

सूक्ष्म तैं हू सूक्ष्म थूल अति विशद कहावै।
अन्तरिक्ष, भू, स्वर्ग, बड़ो सब तैं बनि जावै॥
सर्वकाम जो सर्व—कर्म अरु सर्व गन्ध जो।
सर्व जगत में व्याप्त सर्व रस वाक रहित सो॥
जो सम्भ्रम तैं शून्य है, हृदय कमल इस्थित रहत
वह परमात्मा ब्रह्म—पर, ताहि जगन्मय हू कहत॥

छोटापन और बड़ापन अन्य वस्तुओं की अपेक्षा से होता है। एक व्यक्ति ने एक रेखा खींची और लोगों से कहा-"इस रेखा को

---

* यह मेरा आत्मा हृदय कमल के भीतर धान, सरसो तथा श्यामाक-समा के चावल से भी छोटा है तथा वही हृदय कमल में रहने वाला आत्मा भूमि, स्वर्ग अथवा अन्य समस्त लोकों से भी बड़ा है। वह सूक्ष्म से भी अत्यन्त सूक्ष्म है और महान् से भी अत्यन्त महान् है।

बिना मेंटे छोटा बना दो।" सभी लोग बड़े चक्कर में पड़े कि बिना मिटाये यह रेखा छोटी कैसे हो सकती है। तब एक बुद्धिमान व्यक्ति ने उस रेखा के ऊपर उससे बड़ी रेखा खींच दी और लोगों से पूछा—"इनमें कौन-सी रेखा बड़ी है, कौन-सी छोटी ?"

तब सबको कहना पड़ा—"ऊपर की बड़ी रेखा है नीचे की छोटी।" उस रेखा को बिना स्पर्श किये ही उसे छोटा बना दिया छोटापन अपेक्षाकृत है।

एक माता अपने छोटे पुत्र को अपने पति को सौंपकर पानी भरने चली गयी और पति से कह गयी—"लड़का रोने न पावे। यह जो माँगे वह दे देना।" पति ने कहा—"मैं विश्वविद्यालय का प्राध्यापक हूँ, लड़के को सर्व प्रकार से सन्तुष्ट रखूँगा। तुम निश्चिन्त होकर चली जाओ।"

माता के चले जाने पर लड़के ने पिता से कहा—"मैं गुड़ लूँगा।"

पिता ने एक डेली गुड़ की उसे दे दी। लड़के ने कहा—"मैं तो बड़ी डेली लूँगा।" पिता ने उससे बड़ी दे दी। फिर भी लड़का बड़ी की ही माँग करता रहा, रोता रहा। विवश होकर पिता ने ५ सेर की एक भेली उसके सामने रख दी। लड़का रट लगा रहा था—"मैं तो बड़ी लूँगा।" तब तक माता आ गयी। उसने पूछा—"बच्चे को क्यों रुला रहे हो ?"

क्रोधित होकर पति ने कहा—"तुमने लड़के को सिर पर चढ़ा रखा है। बड़ी भेली को रो रहा है। एक बड़ी भेली रख दी तब भी यह बड़ी की ही रट लगाकर रो रहा है।"

माता ने हँसकर कहा—"ठहरो मैं इसे देती हूँ।" उसने [illegible] बड़ी डेली एक छोटी डेली बच्चे के सम्मुख रखकर कहा— से जो तुझे अच्छी लगे, उसे उठा ले।" लड़के ने [illegible]

अपेक्षा जो बड़ी थी, उसे उठा लिया और प्रसन्न होकर हँसने लगा।

तब पत्नी ने कहा—"स्वतः न कोई बड़ा है न छोटा। बड़ापन छोटापन अपेक्षा कृत है। दो वस्तुओं में ही बड़ापन छोटापन होगा। जिसके कई बच्चे होंगे, उसके बच्चों को बड़ा बच्चा, सबसे बड़ा बच्चा, मझला बच्चा, छोटा बच्चा, सबसे छोटा बच्चा कहा जायगा पं० देवदत्त जो के एक ही बच्चा है उसे चाहे बड़ा बच्चा कहो या छोटा बच्चा। दोनों ही सत्य हैं।

इसी प्रकार ब्रह्म एक है। उसके सदृश या उससे बड़ा छोटा कोई दूसरा ब्रह्म नहीं, अतः उसे चाहें सबसे बड़ा कहो या सबसे छोटा दोनों ही कथन उपयुक्त हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह आत्मा है जो हृदय कमल में स्थित है। वह सबसे सूक्ष्म है। जौ आदि जो छोटे अन्न हैं उनसे भी छोटा है। जौ से छोटा चावल होता है, वह चावल से भी छोटा है। चावल से भी छोटे समा के चावल होते हैं, उनसे भी छोटा है। समा के चावलों से सरसों के दाने छोटे होते हैं, वह सरसों से भी छोटा है। कहाँ तक गिनावें संसार में अणु, परमाणु, जो भी छोटी से छोटी वस्तु है उससे भी वह छोटा है। केवल छोटे से छोटा नहीं, वह बड़े से बड़ा है। ग्राम, नगर, जनपद, प्रान्त, देश तथा सम्पूर्ण पृथ्वी से भी बड़ा है। आकाश से भी बड़ा है, स्वर्ग से भी बड़ा है। समस्त लोकों से भी बड़ा है। ब्रह्माण्डों से भी बड़ा है। संसार में जो बड़ी से बड़ी वस्तुएँ हैं अन्तरात्मा उन सबसे बड़ा है। उसी के द्वारा संसार के सर्व कर्म होते हैं। संसार का कोई कर्म ऐसा नहीं जो अन्तरात्मा की उपेक्षा करके सम्पन्न हो सके। समस्त कामनायें उसी के द्वारा पूर्ण होती हैं, वह सर्वकाम है। जितनी भी गन्ध हैं, सबका कर्ता भोक्ता अन्तरात्मा ही है, जितने

रस हैं, सबका आस्वादन कर्ता वही है। सम्पूर्ण जगत् को वही, चारों ओर से ढके हुए हैं। सभी में वह व्याप्त है। वाणी के बिना ही वह अपने भावों को व्यक्त करने में समर्थ है। वह सम्भ्रम रहित ऐसा आत्मा मेरे हृदय कमल के मध्य में अवस्थित है।

शौनक जी ने पूछा—"सूतजी ! हृदय कमल में स्थित आत्मा और परब्रह्म परमात्मा में कितना भेद है ? क्या अंशी और अंश के समान है ? इन दोनों में कौन छोटा है कौन बड़ा है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! जो ईश्वर समस्त भूतों के हृदय देश में अवस्थित हैं, जो सब प्राणियों को यन्त्रारूढ़ की भाँति घुमा रहे हैं, जो सबके हृदय प्रदेश में प्रविष्ट होकर सबसे कार्य करा रहे हैं, जो हृदय में बैठकर सब का शासन कर रहे हैं वे हृदयस्थ ब्रह्म और आकाशात्मा परब्रह्म परमात्मा दोनों एक ही हैं। इनमे अणुमात्र का भी अन्तर नहीं, भेद नहीं, अंश और अंशी की कल्पना नहीं।"

इस शरीर के अन्त होने पर, वर्तमान शरीर का परित्याग करने पर मैं उसी परब्रह्म को प्राप्त होऊँगा, जैसे घट के फूट जाने पर घटाकाश महाकाश में मिल जाता है। मिल जाना कहना भी उपचार मात्र है। घट का आकाश कभी महाकाश से पृथक् ही नहीं हुआ था। उनमें पृथक्त्व संभव ही नहीं। बीच में घड़े का व्यवधान पड़ गया था। व्यवधान हटने पर वह यथार्थ रूप में प्रदर्शित होने लगा। इसी प्रकार शरीर रूपी व्यवधान के हटने पर मैं अपने स्वरूप को प्राप्त होऊँगा।" ऐसा जिस साधक का पूर्ण निश्चय है, दृढ़ मत है। जिसे इस विषय में तनिक भी संदेह नहीं है, उसे उस भाव की अवश्य ही प्राप्ति होती है। ऐसा शाण्डिल्य ऋषि का मत है। निश्चय ही यह शाण्डिल्य ऋषि की उक्ति है। ये शाण्डिल्य ऋषि भक्ति सूत्रकार हैं, गोत्र प्रवर्तक

हैं। स्मृतिकार हैं। उन परम भागवत महामुनि शाण्डिल्य की यह आध्यात्मिकी शिक्षा है।

सूतजी कह रहे हैं—मुनियो ! यह मैंने जगत् की एवं हृदयस्थ ब्रह्म की परब्रह्म रूप की उपासना बतायी, अब आगे विराट्रूप कोश की उपासना का वर्णन करूंगा। आशा है आप इस शरणागति विषय को दत्तचित्त होकर श्रवण करेंगे।"

छप्पय

हृदय कमल के मध्य आतमा मेरो इस्थित।
हिये माहिँ जो बसै वही है परब्रह्म इत॥
हौं जब तनकूँ त्यागि मृत्यु देह की मृत्यु कराऊँ।
पुनि नहिँ धारूँ देह ब्रह्म में ही मिलि जाऊँ॥
जाको अस निश्चय सुदृढ़, नहिँ जाकूँ सन्देह है।
पाइ ब्रह्म कूँ सो अवसि, यह शांडिल उपदेश है॥

इति छान्दोग्य उपनिषद् के तृतीय अध्याय में
चौदहवाँ खण्ड समाप्त

विराट् रूप कोश की उपासना

[१४५]

अन्तरिक्षोदरः कोशो भूमिबुध्नो न जीर्यति दिशो ह्यस्य स्रक्तयो द्यौरस्योत्तरं बिलं स एष कोशो वसुधानस्तस्मिन् विश्वमिदं श्रितम् ॥*

(छा० उ० ३ अ० १५ ख० १ मं०)

छप्पय

यह विराट् ही कोश उदर तिहि अन्तरिक्ष है ।
भूमि मूल–नहिं जीर्ण दिशा सब कोण उक्त है ॥
उपरि छिद्र आकाश नाम वसुधान कहावै ।
विश्व सकल थित रहै पूर्व दिशि जुहू लखावै ॥
दक्षिण दिशि सहमना है, पश्चिम राज्ञी नाम है ।
कहीं सुभूता उदीची, दिशि–सुत वायु महान है ॥

कोश शब्द का अर्थ अण्डा है। जो सटा रहे, मिला रहे, आलिंगन किये रहे वही कोश है। (कुश्यते=संश्लिष्यते यः सः

---

* परब्रह्म परमात्मा की कोश रूप में–अंड–रूप में उपासना करनी चाहिये। अन्तरिक्ष ही इस कोश का उदर है, इसकी मूल भूमि है। यह जीर्ण शीर्ण पुराना नहीं होता। दिशायें ही इस कोश के कोने हैं। ऊपर का छिद्र ही आकाश है। यह वसुधान नामक कोश है। यह चराचर जड़ चैतन्यात्मक संपूर्ण विश्व इसी में स्थित है।

कोशः) कोश खान को भी कहते हैं। कोश सुवर्ण को भी कहते हैं, कोश आवरण का भी नाम है और कोश रेशम वनाने वाले कीड़ा का भी नाम है। यहाँ विराट को कोश वताकर उसकी ब्रह्मरूप से उपासना वतायी है। यहाँ कोश शब्द विराट् विश्व ब्रह्माण्ड के ही अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। इस विराट् ब्रह्माण्ड को, जो ब्रह्मरूप से उपासना करता है। उसे पुत्र के लिये रोना नहीं पड़ता। यह इस उपासना का फल है। पुत्र के लिये ३ प्रकार से ही रोया जाता है। या तो पुत्र न हो, तब रोया जाता है। या पुत्र मूर्ख हो, रोगी तथा दुखी हो तब रोया जाता है, या पुत्र अल्पायु हो, अपने सम्मुख ही उसकी मृत्यु हो जाय तब रोया जाता है। इस उपासना से जिसके पुत्र न होगा उसके पुत्र हो जायगा। अथवा सभी को अपना पुत्र मानकर संतोष करेगा। उसका पुत्र मूर्ख, रोगी अथवा दुखी न होगा और उसकी अल्पायु में मृत्यु भी न होगी। पीछे प्राण उपासना के प्रकरण में वताया है कि पाँच ब्रह्म पुरुष आदित्य, चन्द्रमा, अग्नि, पर्जन्य और वायु ये स्वर्गलोक के द्वारपाल हैं, जो कोई इन स्वर्गलोक के द्वारपालों की उपासना करता है, उसके कुल में वीर पुत्र पैदा होता है।

हम पहिले ही वता चुके हैं ये सव सकाम उपासनायें हैं। संसार में गृहस्थियों को आयु, वित्त, पशु, परिवार, धान्य, स्वास्थ्य तथा स्त्री पुत्रों की ही कामना होती है। आयु के लिये, धन की प्राप्ति के लिये, पशु, परिवार, धान्य, स्थास्थ्य तथा स्त्री पुत्रों की प्राप्ति के निमित्त वहुत-सी उपासनायें पीछे वता चुके हैं। वीर पुत्र प्राप्ति के निमित्त भी उपासना कही गयी है। मान लो वीर पुत्र पैदा हो जाय, और वह अल्पायु होकर मर जाय, तो उसके लिये जीवन भर रोना ही पड़ेगा। अतः अव विराट् कोश की उपासना इसी कामना के निमित्त वताते हैं, जिससे पुत्र के लिये

रोना न पड़े। वह सुयोग्य दीर्घायु तथा चिरजीवी हो। इस कामना से विराट कोशोपासना करनी चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जिस उपासना का फल आत्मज की दीर्घायु होना है, उस उपासना को बताते है। जिसे इच्छा हो, मुझे पुत्र के निमित्त रोना न पड़े मेरा पुत्र दीर्घायु हो, उसे ब्रह्म की कोशोपासना करनी चाहिये। वह भावना करे यह चराचर विश्व ब्रह्माण्ड एक अंडा है। अंडे में भीतर उसका उदर होता है, तो यह अन्तरिक्ष–बीच का लोक–ही मानो इस विराट् कोश का उदर है। अंडा का मूल होता है–माता। तो यह पृथ्वी ही मानों इस विराट् कोश की मूल भूता माता है। साधारण अंडा पक जाने पर जीर्ण हो जाने पर–फूटकर नष्ट हो जाता है, किन्तु यह ऐसा कोश है, कि चिरकाल तक स्थायी रहने वाला है, यह कभी जीर्ण नहीं होता। अंडा में चार कोण होते हैं, तो चारों दिशायें ही चारों कोण हैं। अंडे में एक ऊपर छिद्र होता है, जिससे वायु भीतर जाती रहे। इस विराट् कोश का ऊपरी छिद्र मानों द्युलोक–स्वर्ग है। यह ऐसा विलक्षण विराट् कोश है। इस कोश का नाम है वसुधान। वसु कहते हैं धन को उससे परिपूर्ण है। अर्थात् कर्म फल ही इस कोश का मूलधन है। इस कोश में यह सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड आश्रित है। अर्थात् यह दृश्यमान समस्त कर्म कर्तृ फलात्मक जगत् इस कोश में स्थित है।"

अब इस विराट् कोश की चारों दिशाओं का वर्णन करते हैं। यह जो विराट् रूप कोश है। इसकी पूर्व दिशा 'जुहू' नाम वाली है। जुहू यज्ञ के उस पलाशपात्र का नाम है, जो चन्द्राकृति होता है, उससे हवन किया जाता है (जुहोति=अनया–इति–जुहू) पूर्वदिशा में जब सूर्योदय होता है, तभी हवन आरम्भ किया जाता है। अतः इस विराट्कोश की पूर्व दिशा का नाम जुहू है।

इस विराट्कोश की दक्षिण दिशा का नाम सहमाना है। सह धातु का अर्थ सहना अर्थात् भोगना है। कर्मों का फल यम की दक्षिण पुरी में ही भोगा जाता है अतः इस दिशा का नाम सहमाना है।

इस विराट्कोश की पश्चिम दिशा का नाम राज्ञी है। राजा की पत्नी का नाम राज्ञी होता है (राज्ञः पत्नी=इति-राज्ञी) समस्त जलों के जलचरों के राजा वरुण हैं। वे पश्चिम दिशा के अधिपति हैं–राजा है–अतः उनकी दिशा राज्ञी होनी ही चाहिये। राज्ञी प्रभा दीप्ति को भी कहते हैं। पश्चिम दिशा दीप्तिमती है।

विराट्कोश की उत्तर दिशा का नाम सुभूता है। जिस दिशा में सुन्दर प्राणी रहें उसे सुभूता कहते हैं। उत्तर दिशा में समस्त ऋषि मुनि तपस्या करते हैं। मृत्यु के समय समस्त सुकृति पुरुष उत्तर दिशा में जाते हैं, जिस दिशा को जाकर लौटते नहीं। कुबेर देवताओं के कोषाध्यक्ष इसी दिशा मे रहते है। अतः इस दिशा का नाम सुभूता है। इन चारों दिशाओं का पुत्र वायु है। जैसे बच्चा अपनी माता की गोदी में स्वच्छन्द होकर विचरण करता है। माता की गोदी में जहाँ चाहता है, वहीं डोलता है। इसी प्रकार वायुदेव चारों दिशाओं में स्वच्छन्द विचरण करते हैं।

जो इस प्रकार इस विराट्कोश की, दिशाओं की, उनके पुत्र वायु की उपासना करता है, उसे पुत्र मरण के निमित्त रोदन नहीं करना पड़ता। यही इस विराट्कोश की उपासना का फल है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार इस विराट्कोश रूप ब्रह्माण्ड की जो चारों दिशाओं का पुत्र वायु है उसकी जो उपासना करता है, उसे कभी पुत्र के वियोग में रोना नहीं पड़ता। यह तो उपासना और उसका फल बताया। अब जिस उपदेष्टा ने यह उपासना की है और उस उपासना के प्रतिफल स्वरूप जो

अनुभव हुआ है, और उसने किन शब्दों द्वारा कैसे उपासना की है। उनकी उस स्वानुभूत उपासना का वर्णन मैं आगे करूँगा। आशा है आप लोग इसे दत्तचित्त होकर श्रवण करेंगे।"

छप्पय

दिशनि पुत्र जो वायु दिशनि सुत सहित अराधे।
रोवै नहिं सुत निमित साधना इहि विधि साधे॥
करि मन में संकल्प दिशनि हौं सुत युत जानूँ।
तो फिरि कबहूँ नहीं पुत्र हित रुदन न ठानूँ॥
चिरजीवी मम होइ सुत, कबहुँ न मम सम्मुख मरै।
नहिं प्रसङ्ग अस प्राप्त दिशि-वायु उपासन जो करै॥

वत्स सहित दिशाओं की अजर कोश उपासना विधि

[१४६]

अरिष्टं कोशं प्रपद्येऽमुनामुनामुना प्राणं—प्रपद्येऽमुनामुनामुना भूः प्रपद्येऽमुनामुनामुना भुवः प्रपद्येऽमुनामुनामुना स्वः प्रपद्येऽमुनामुनामुना ॥❀

(छा० उ० ३ म० १५ खा० ३ मं०)

छप्पय

हौं निज सुत के सहित अजर जो कोश शरन हूँ।
अमुक नाम सुत सहित प्राण के शरणागत हूँ॥
अमुक पुत्र के सहित भूमि के शरणागत हूँ।
फिर चाई के सहित भुवः की शरण गहत हूँ॥
चिरजीवी मम सुत सहित, स्वः के शरणागत भयो।
प्राण शरण जो मम कही, भूतमात्र प्राणहि कह्यो॥

❀ अरिष्ट कोश की अमुक-अमुक-अमुक नाम के पुत्र सहित मैं शरण में हूँ। अमुक-अमुक-अमुक के सहित मैं प्राण की शरण में हूँ। अमुक-अमुक-अमुक के सहित भू व्याहृति की शरण में हूँ भुव व्याहृति की अमुक-अमुक-अमुक के सहित शरण में हूँ तथा स्वः व्याहृति की भी अमुक-अमुक-अमुक के सहित शरण में हूँ।

उपासना की अथवा किसी भी कार्य की जो पद्धति को जानते हैं वे विधिवेत्ता कहलाते हैं। विधान शास्त्रों द्वारा जाना जाता है, किन्तु उस शास्त्र की विधि को करके जिन्होंने विधिवत अनुभव प्राप्त किया है और उस विधि से सफलता प्राप्त की है, वे ही वास्तविक प्रामाणिक विधिज्ञ हैं। ऐसे विधिवेत्ताओं द्वारा वतायी विधि से जो कार्य करते हैं वे अवश्य ही सफल होते हैं। हमारा पुत्र निरोग रहे, उसके लिए हमें रुदन न करना पड़े। इसके लिये नियम और उस उपासना का फल तो पीछे बता दिया गया। अब आगे यह बताते हैं, कि जिन्होंने इस वसुधान कोश की उपासना की है, उन्होंने अपना अनुभव कैसे व्यक्त किया है और किन शब्दों द्वारा किन देवों की कैसे इस उपासना को किया है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! दिशाओं का और उनके वत्स वायु की उपासना का वर्णन तो पीछे कर चुके। अब वह उपासना कैसे करनी चाहिये। किन शब्दों द्वारा देवताओं के प्रपन्न होना चाहिये, उन कोश विज्ञान के अङ्गभूत प्रपदन (प्रपन्न होने वाली) विधि को उनके मन्त्रों का वर्णन करते हैं। साधक हाथ जोड़कर बद्धाञ्जलि होकर-मैं अमुक नाम वाले पुत्र के निमित्त, अमुक नाम वाले पुत्र के निमित्त, अमुक नाम वाले पुत्र के निमित्त अविनाशी कोश की शरण प्राप्त होता हूँ।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! अमुक नाम के पुत्र के निमित्त यह वचन तीन बार क्यों कहा?"

सूतजी ने कहा—"भगवन! त्रिवाचा भरने की प्राचीन प्रथा है। आदमी हाथ से हाथ स्पर्श करके तीन बार कह दे कि यह मैंने दिया, दिया, दिया। तो वह प्रतिज्ञा पूर्ण मानी जाती है। इसलिये सभी प्रतिज्ञायें सभी शरणागत मन्त्र तीन बार उच्चारण किये जाते हैं। अथवा एक वचन, द्विवचन, बहुवचन। संस्कृत

भाषा में तीन ही वचन होते हैं। दो के आगे सब बहुवचन वाचक माने जाते हैं। किसी के बहुत पुत्र हों, तो उन सबका नाम लेकर इन प्रपदन मन्त्रों को पढ़ें। जो अपने सब पुत्रों की मङ्गल कामना चाहता हो, सभी को नीरोग चिरजीवी बनाना चाहता हो, तो अमुक-अमुक-अमुक यह जहाँ भी आया हो, वहाँ अपने पुत्रों का नामोच्चारण करे। इस प्रकार पहिले कोश के शरणापन्न हो, तदनन्तर प्राण की शरणागति के मन्त्र पढ़े।"

शौनकजी ने पूछा—"जिसके बहुत पुत्र न हों, एक ही पुत्र हो तो क्या वह पुत्र का नाम अमुक के सहित अमुक की शरण हूँ, ऐसा एक ही बार पढ़े, या तीन बार पढ़े ?"

सूतजी ने कहा—"चाहें एक ही पुत्र क्यों न हो त्रिवाचा के रूप में तीन बार तो पढ़ना ही चाहिये। हाँ, तो कोश की शरण जाने के अनन्तर प्राण की शरण जाय। "मैं अपने अमुक नाम वाले पुत्र के निमित्त ३ (तीन बार) उसके सहित प्राण की शरण में हूँ।" तदनंतर भूः, भुवः, और स्वः इन तीन व्याहृतियों की शरण ग्रहण करे "मैं अमुक नाम वाले पुत्र के लिये (३ बार) सहित भूः की शरण में हूँ। अमुक नाम वाले पुत्र के लिये उसके उसके सहित भुवः की शरण में हूँ। अमुक नाम वाले पुत्र के लिं उसके सहित स्वः की शरण में हूँ।"

इस प्रकार प्राण की, भुः की, भुवः की और स्वः की, पुत्र के कल्याण निरोग और चिरजीवी होने के निमित्त शरणागति करे।

शौनकजी ने पूछा—"प्राण की शरणागति का अ क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"इस बात का स्पष्टीकरण भगवती श्रुति पुत्र की दीर्घ जीवन की कामना करने वाले व्यक्ति के मुख से

करा दिया है। जो पुत्र के निमित्त रोदन करना नहीं चाहता, वह 'पुत्र-कल्याणेच्छुक' कहता है—"मैंने जो यह बात कही कि 'मैं प्राण की शरण में हूँ।' इससे मेरा अभिप्राय केवल अपने शरीर के भीतर विचरण करने वाले प्राणों से ही नहीं है। अपितु जो भी सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् है। जितने भी जगत् में भूत समुदाय हैं, उन सब भूतों से ही मेरा तात्पर्य है। क्योंकि समस्त भूत प्राणात्मक हैं। प्राणों के बिना भूत समुदाय का अस्तित्व ही नहीं। अतः प्राण की शरण हूँ, इसका तात्पर्य है मैं समस्त भूत समुदाय की शरण में हूँ।"

शौनकजी ने कहा—"भूः की शरण हूँ, इसका तात्पर्य क्या है?"

सूतजी ने कहा—"इसका भी स्पष्टीकरण उसी के मुख से श्रुति ने कराया है। पुत्र कल्याणेच्छु कहता है—"मैंने जो यह बात कही, कि मैं भूः की शरण हूँ, इससे केवल पृथ्वी लोक का ही ग्रहण न करना चाहिये, अपितु इसका तात्पर्य यही है कि पृथ्वी की शरण हूँ, अन्तरिक्ष की शरण हूँ और स्वर्गलोक की भी शरण हूँ। यहाँ भू कहने का प्रयोजन तीनों लोकों का है।"

शौनकजी ने पूछा—"फिर भुवः की शरण हूँ इसका क्या तात्पर्य?"

सूतजी ने कहा—"इसका भी तात्पर्य श्रुति के ही द्वारा पुत्र चिरंजीवेच्छुक के ही शब्दों में सुनिये। वह कहता है—मैंने जो कहा—मैं भुवः की शरण हूँ, उससे मेरा तात्पर्य पृथ्वीलोक और स्वर्गलोक के बीच के केवल अन्तरिक्षलोक से ही नहीं है, अपितु उस अन्तरिक्ष लोक में विचरण करने वाले वायुदेव से, वायुदेव के पुत्र अग्निदेव से और अन्तरिक्ष में विचरण करने वाले आदित्य-सूर्यदेव से है। अर्थात् मैं अग्निदेव की शरण में हूँ,

उनके पुत्र वायुदेव की शरण हूँ, तथा प्रकाश के अधिष्ठातृ देव आदित्य की शरण हूँ। तीनों जीवनाधार देवों से ही मेरा तात्पर्य है।"

शौनकजी ने पूछा—"स्वः की शरण हूँ, इसका क्या अभिप्राय है?"

सूतजी ने कहा—"इसका भी तात्पर्य उन्हीं के शब्दों में सुन लीजिये। वे कहते हैं—मैंने जो कहा-कि मैं स्वः की शरण हूँ, तो इससे अभिप्राय केवल देवताओं के रहने वाले द्युलोक से ही नहीं है। जिस वेदत्रयी के कारण स्वर्गलोक की प्राप्ति होती है उस वेदत्रयी से मेरा अभिप्राय है। अर्थात् मैं ऋग्वेद की शरण में हूँ, यजुर्वेद को शरण में हूँ और सामवेद की शरण में हूँ। मेरा अभिप्राय यही है। इसी को मैंने कहा है यही मैंने कहा है, सत्य-सत्य यही मैंने कहा है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यही वत्स सहित दिशाओं की अजर कोश उपासना है। अत्यन्त विनीत भाव से पुत्र की दीर्घायु चाहने वाला पिता अजर कोश का, दिशाओं के सहित उनके वत्स वायु का एकाग्रचित्र होकर श्रद्धापूर्वक ध्यान करे। फिर हाथ जोड़कर (अरिष्टं कोशं से तद्वोचं तद्वोचम् तक) मन्त्रों का जप करे। तो इससे उस साधक को पुत्र के लिये रुदन न करना होगा। यह मैंने पुत्र के दीर्घ जीवन के निमित्त विराट् कोश की उपासना बतायी अब आगे जैसे आत्मयज्ञ की उपासना बतायी है, उसका वर्णन आगे किया जायगा।"

छप्पय

भू की जो है शरण भूमि शरणागत जानो।
अन्तरिक्ष के सहित स्वर्ग के सहितहु मानो॥
भुव की जो है शरण अनिल अनल हु रवि जानो।
मैं स्वः की हूँ शरण तीनि वेदनि तिहि मानो॥
समुझो, हौं सब भूत की, भूमि, स्वरग, आकाश की।
अनल, अनिल, रवि, वेदत्रय, शरण गही यह ही कही॥

इति छांदोग्य उपनिषद् के तृतीय अध्याय में
पन्द्रहवाँ खंड समाप्त।

आत्मारूप यज्ञ की उपासना

[१४७]

पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विँशतिवर्षाणि तत्प्रातःसवनं चतुर्विँशत्यक्षरा गायत्री गायत्रं प्रातःसवनं तदस्य वसवोऽन्वायत्ताः प्राणा वाव वसव एते हीदँ सर्वं वासयन्ति ॥*

(छा० उ० ३ अ० १६ खं १ मं०)

छप्पय

कह्यो पुरुष ही यज्ञ वरष चौबिस जो ताके।
प्रातसवन गायत्र वही अक्षर सब वाके॥
अनुगत वसु तिहि सवन प्राण ही वसु कहलावें।
सबनि वसावें प्राण प्राण बिनु सब भगि जावें॥
होइ रोग चौबिस बरस-तक तब वसु प्राननि कहै।
परिवर्तित मध्यहि सवन-करें रोग बिनु है रहै॥

यज्ञ ही मुख्य कर्म है। यज्ञ के अतिरिक्त जो कर्म हैं वे सभी कर्म बन्धन के कारण हैं। ब्रह्माजी ने सृष्टि के आरम्भ में अपने

---

* यह पुरुष यज्ञ रूप है, इस यज्ञ का प्रातःसवन गायत्र है गायत्री चौबीस अक्षरों वाली है, अतः पुरुष की आयु के चौबीस वर्ष प्रातःसवन हैं। इस प्रातःसवन के वसुगण अनुगत हैं। प्राण ही वसु हैं, जो बसावें वही वसु, प्राण ही सबको बसाये हुए हैं।

चारों मुखों से चारों वेदों की, होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा यज्ञ के चारों ऋत्विजों और उनके शस्त्र, इज्या, स्तुतिस्तोम और प्रायश्चित्त इन कर्मों की रचना की। तदनन्तर जो षोडशी, उक्थ, चयन, अग्निष्टोम, आप्तोर्याम, अतिरात्र, वाजपेय और गोसव इन आठ यागों की रचना की। उष्णिक्, गायत्री, त्रिष्टुप, अनुष्टुप, जगती, पंक्ती और बृहती सात छन्दों की रचना की।

इन वर्णनों से पता लगता है। इस देश में सृष्टि के आरम्भ से ही कर्मकांड का–यज्ञों का–सर्वत्र प्रचलन था। यज्ञ ही एक ऐसा महत्त्वपूर्ण कार्य था, जिसका वर्णन चारों वेदों में है। भगवान् का पुरुषावतार के पश्चात् आदि अवतार शूकरावतार ही है। भगवान् वाराह शूकर बनकर पाताल में गयी पृथ्वी को निकाल लाये थे और उसे पुनः जल के ऊपर स्थापित कर दिया था। उनके इस दुष्कर कर्म से प्रभावित और प्रसन्न होकर जन, तप और सत्यलोक के महर्षियों ने जो उनकी स्तुति की, वह भी यज्ञीय स्तुति थी। भगवान् के शरीर को यज्ञमय बताकर उनके अंग की यज्ञाङ्गों के साथ तुलना की। जैसे ऋषियों ने कहा— "आप का जो श्री विग्रह है (मुख, उदर और पृष्ठ भाग) वह वेदत्रयी रूप है। आप के रोम कूप ही नानाप्रकार के यज्ञों के भेद हैं। आप की त्वचा में गायत्री आदि सभी छन्द हैं, यज्ञों में काम आने वाली कुशायें मानो आपकी रोमावली है। नेत्र घृत रूप हैं, चारों पैर होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा चार ऋत्विज् और उनके कर्म हैं। आपके मुख का अग्रभाग थूथनी यज्ञीय पात्र श्रुक् है, नासिका छिद्र घृत डालने का पत्र स्रुवा है। उदर यज्ञीय भक्षण पात्र इडा है। कान चमसपात्र है। मुख ब्रह्म भाग पात्र प्राशित्र है। कण्ठछिद्र सोमपात्र ग्रह है। आप जो भोजन चबाते हैं वही मानों अग्निहोत्र है। यज्ञ की दीक्षणीय इष्टि आपका पुनः-पुनः

अवतार लेना है। यज्ञ की तीन इष्टियाँ जो उपसद कहलाती हैं, वह आपकी नार (गरदन) है। यज्ञ की जो प्रायणीय और उदयनीय–दीक्षा के पश्चात् की इष्टि और यज्ञ समाप्ति की इष्टि ये ही प्रायणीय और उदयनीय नाम की दो इष्टियाँ हैं वे मानों आप की दो दाढ़े हैं। यज्ञ की जो तीन इष्टियाँ उपसद नाम से विख्यात हैं उस प्रत्येक उपसद के पहिले जो कर्म किया जाता है उस कर्म को महावीर कर्म कहते हैं। वह महावीर कर्म ही मानों आपकी जिह्वा है। होमरहित केवल यज्ञ की जो अग्नि होती है उसका नाम सभ्य है, उपासना की जो अग्नि होती है उसका नाम आवसथ्य है। ये अग्नि मानों आपका सिर है। यज्ञ में ईंटों का चुनना (इष्ट का चयन) जो कर्म होता है, वही मानों आपके प्राण हैं। यज्ञों मे जो सोम होता है, जिसका पान देवगण करते हैं। आपका वीर्य ही मानों सोम है। यज्ञों में प्रातःसवन, मध्यन्दिनसवन और सायंसवन तीन यज्ञ कृत्यों के काल–सवन होते हैं। आपका आसन से बैठना ही मानों तीनों सवन हैं। यज्ञों की सात संस्थायें (सात प्रकार) १. अग्निष्टोम, २. अत्यग्निष्टोम, ३. उक्थ, ४. षोपशी, ५. वाजपेय, ६. अतिरात्र और ७. आप्तोर्याम नाम से हैं, वे ही मानों आप के देह की रस, रक्त, मांस, मज्जा, मेद, अस्थि और शुक्र ये सात धातुएँ हैं। जितने सत्र हैं वे आपकी शरीर सन्धियाँ हैं। आपका शरीर सोमरहित याग जिसकी यज्ञ संज्ञा है और सोमसहित याग जिसकी क्रतु संज्ञा है। वह यज्ञ और क्रतु रूप है। यज्ञ का अनुष्ठान रूप जो इष्टियाँ हैं वे आपकी मांस पेशियाँ हैं। विशेष कहाँ तक कहें—यज्ञों में जिन-जिन मन्त्रों का प्रयोग किया जाता है, जिन-जिन देवताओं का आवाहन, पूजन विसर्जन किया जाता है, जो-जो द्रव्य यज्ञ के उपयोग में लाये जाते हैं, जिस नाम का जो भी यज्ञ किया जाता है तथा यज्ञों में जितने भी तीनों

सवनों के कर्म किये जाते हैं वे सब आप ही हैं। इससे पता चलता है, कि पहिले सब महत्वपूर्ण कार्य यज्ञ को ही लक्ष्य करके प्रतिष्ठित होते थे। जब कर्म के पश्चात उपासना करने लगे तब सभी कर्मों में यज्ञ के साथ समता की जाने लगी इस बात को पीछे के उपासना प्रसङ्ग में बारम्बार बताया ही गया है। अब अपने शरीर को ही यज्ञ मानकर इसे निरोग रखने की उपासना बतायी जाती है। इस शरीर की बाल्यावस्था, यौवनावस्था और वृद्धावस्था तीन अवस्थायें हैं। मनुष्य की पूर्णायु सौ वर्ष की मानी गयी है। उसे १२५ की पूर्णायु कहते हैं। शतायु कहो १२५ कहो एक ही बात है। सौ से ऊपर शतायु ही कहलाते हैं यहाँ भगवती श्रुति १ ६ वर्ष की पूर्णायु बताती है। इतरा के पुत्र ऐतरेय मुनि हुए हैं, जिनकी ऐतरेय उपनिषद् है, जिनका जीवन हम ऐतरेय उपनिषद् के आरम्भ में बता चुके हैं, उनका दूसरा नाम महिदास भी मिलता है। उन्होंने यह आत्मयज्ञ उपासना की थी। और उसे करके वे ११६ वर्ष तक नीरोग जीते रहे। आगे उन्हीं का अनुभव सुनिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! कर्मकाण्ड में यज्ञ सम्बन्धी समस्त संभार एकत्रित करके तब शास्त्रीय विधि से यज्ञ कर्म किये जाते हैं। उपासना में यज्ञ की तत्तद् विषयों में कल्पना की जाती है। पिछले प्रकरण में पुत्र की दीर्घायु के निमित्त कैसे उपासना करनी चाहिये, किन मन्त्रों का जप करना चाहिये ये बातें बतायीं। अब अपने आपको ही यज्ञ मानकर अपनी चिरायु के निमित्त उपासना करनी चाहिये।

शास्त्र का वचन है, अपनी आत्मा की पुत्र से तथा धन से भी अधिक रक्षा करनी चाहिये। जब पुरुष स्वयं जीवित रहेगा, तभी पुत्र, पौत्र, धन, धान्य, पशु, वाहन, मान सम्मान के सैकड़ों

सुखों का उपभोग कर सकेगा। अतः बड़े यत्न से जीवन की रक्षा करनी चाहिये, अतः अपनी दीर्घायु के निमित्त भी उपासना करनी चाहिये। कैसे उपासना करनी चाहिये इसको बताते हैं। यज्ञों में तीन सवन होते हैं। प्रातःसवन, मध्यन्दिनसवन और सायंसवन। इन तीनों सवनों के प्रधानतया तीन देव होते हैं। वसुगण, रुद्रगण, और आदित्यगण। प्रातःसवन के वसुगण अधिष्ठातृ देवता होते हैं, मध्यन्दिनसवन के रुद्रगण देवता होते हैं और अन्तिम सायंसवन के आदित्य देवता माने गये हैं।

देवताओं की ही भाँति तीनों सवनों की मुख्यतया तीन छन्द मानी गयी हैं, चौबीस अक्षरों वाली त्रिपदा गायत्री छन्द प्रातःसवन को धारण करती है। अतः प्रातःसवन गायत्रसवन कहलाता है। त्रिष्टुप् छन्द मध्याह्न सवन को वहन करती है। इसीलिये त्रैष्टुप् सवन कहते हैं तृतीय जो सायंसवन है इसे जगती छन्द वहन करती है, अतः यह जागतसवन कहलाता है। इस प्रकार तीनों सवनों के देवता, छन्द बताये। उसकी कल्पना यज्ञ रूप में पुरुष की आयु से कैसे करें इसी को बताते हैं।

अपने शरीर को ही यज्ञ मानकर आत्मयज्ञोपासना करे। यज्ञों में तो प्रातः, मध्याह्न और सायं तीन सवन होते हैं। मनुष्य शरीर में तीन सवन क्या हैं। मनुष्य की आयु को भी तीन भागों में बाँट दो। मनुष्य की आयु के जो चौबीस वर्ष हैं उन्हें ही प्रातःसवन मानना चाहिये।

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ५ वर्ष तक बाल्यावास्था है, ६ वर्ष से लेकर १४ तक पौगण्ड और १४ से १६ तक किशोरावास्था १६ के पश्चात् युवावास्था आ जाती है। २४ वर्ष को आप प्रातःसवन किस आधार पर बता रहे हैं?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! यहाँ बाल, पौगण्ड किशोर तथा

युवावस्था के क्रम से सवनों की समता नहीं की गयी। प्रातः-सवन को गायत्र सवन कहते हैं। गायत्री छन्द के प्रत्येक पाद में आठ-आठ अक्षर होते हैं और प्रायः गायत्री छन्द त्रिपदी होती है। अतः गायत्री छन्द चौबीस अक्षरों वाली है इसीलिये प्रातः-काल के गायत्र सवन से मनुष्य की आयु के चौबीस वर्षों से समता की गयी।"

शौनकजी ने कहा—"गायत्री के चौबीस अक्षरों से पुरुष की आयु के चौबीस वर्षों की समता की गयी, यह तो उचित ही समता है, किन्तु प्रातःसवन के वसुगण देवता हैं, उनकी समता मनुष्य शरीर में किससे की जाय ?"

सूतजी ने कहा—"प्रातःसवन वसुगण के अनुगत है। यहाँ शरीर में जो प्राण हैं ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ हैं, ये ही मानों वसुगण है। ये प्राण तथा इन्द्रियाँ शरीर में वसते हैं, इसलिये प्राण ही वसु हैं (वसति = इति-वसुः) अथवा प्राण ही प्राणि समुदाय को वसाये हुए हैं। प्राण न रहें तो शरीर में इन्द्रियादि कोई भी न रहे। इसलिये स्वयं बसने के कारण और दूसरों को बसाये रहने के कारण प्राण ही वसु हैं।"

इस प्रकार पुरुष की चौबीस वर्ष की आयु को आत्मयज्ञ का प्रातःसवन मानकर उपासना करनी चाहिये। चौबीस वर्ष की आयु में यदि पुरुष को कोई रोग आदि कष्ट पहुँचावे तो उसे इस प्रकार वसुओं से प्रार्थना करनी चाहिये—"हे मेरे प्राण रूप वसु देवताओ ! मेरे इस प्रातःसवन को मध्यन्दिन सवन के साथ एक रूप कर दो। मैं जो यज्ञ स्वरूप हूँ, वह मैं वसुओं के मध्य में विलुप्त न होऊँ। अर्थात् २४ वर्ष के भीतर मेरी मृत्यु न हो, इसे मेरी मध्यन्दिनसवन रूप आयु में एकीभूत कर दो। अर्थात् मैं चौबीस वर्षों तक अगद-रोग दुःख सन्ताप से रहित होकर-सकु-

शल पच्चीसवें वर्ष में प्रवेश करूँ।" इस प्रकार जो वसुओं की उपासना करता है। वह रोगादि कष्टों से छूटकर इस जप ध्यान के द्वारा चौबीस वर्षों तक नीरोग रहता है।

अब प्रातःसवन के पश्चात् मध्याह्नसवन आता है। मध्याह्न-सवन का छन्द त्रिष्टुप् है और रुद्रगण उसके देवता हैं। त्रिष्टुप् छन्द चार पाद वाली होती है और प्रत्येक पाद में ग्यारह अक्षर होते हैं, इस प्रकार मध्यन्दिनसवन पुरुष की चौबीस वर्ष की आयु के पश्चात् चौवालीस वर्ष पर्यन्त रहता है।

शौनकजी ने कहा—"मध्यन्दिनसवन के देवता तो रुद्र हैं। शरीर में उन रुद्रों की समता किससे है?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! इन शरीरस्थ प्राणों की ही रुद्र संज्ञा है। जो रोवे या रुलावे वही रुद्र है (रुदन्ति अथवा रोद-यन्ति=इति-रुद्राः) मध्य आयु में प्राण क्रूर हो जाते हैं इसलिये रुद्र हैं अथवा मरणकाल में सब को रुलाते हैं इसलिये भी इनकी रुद्र संज्ञा है।"

अतः मध्यन्दिनसवन रूप पुरुष की आयु में अर्थात् चौबीस वर्ष से आगे ४४ वर्ष पर्यन्त ६८ वर्ष की आयु के मध्य में पुरुष विद्या निष्ठ उपासक को कोई रोग आदि कष्ट पहुँचावे तो इस प्रकार विनीतभाव से हाथ जोड़कर रुद्रों से प्रार्थना करे—"हे प्राण स्वरूप रुद्रगण! मेरा जो पच्चीसवें वर्ष से लेकर आयु के ६८ वर्ष पर्यन्त जो चौवालीस वर्ष हैं वे इस शरीर के मध्याह्नसवन हैं। मेरे इस मध्याह्न कालिकसवन को तृतीय सवन—सायंसवन के साथ एकीभूत कर दो। अर्थात् मैं ६८ वर्ष पर्यन्त निरोग रहूँ। मैं जो यज्ञ स्वरूप हूँ, प्राण रूप रुद्रों के मध्य में कभी नष्ट न होऊँ अर्थात् मैं ६८ वर्ष पर्यन्त मृत्यु को प्राप्त न होऊँ।" इस प्रकार की प्रार्थना करने पर वह पुरुषरूप विद्यानिष्ठ उपासक उस कष्ट से

छूटकर नीरोग हो जाता है। वह अड़सठ वर्ष की आयु पर्यन्त सुखपूर्वक जीता है।

अब तीसरा यज्ञों में सायंसवन होता है। वह जगती छन्द वाला तथा आदित्य देवों के अनुगत होता है। जगती छन्द चार पादों का छन्द है और उसके प्रत्येक पाद में १२-१२ अक्षर होते हैं। इसलिये यह ४८ अक्षरों वाला है। अड़सठ वर्ष से लेकर ४८ वर्ष पर्यन्त अर्थात् आयु के ११६ वें वर्ष तक इस शरीर का सायं-सवन समझना चाहिये। तृतीय सवन के आदित्य देवता है।

शौनकजी ने कहा—"इस शरीर में आदित्य की समता किससे की गयी है?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! आदित्य शब्द का अर्थ है जो सबको चारों ओर से ग्रहण करे (इदं शब्दादिजातम्-आददते-इति-आदित्यः) सो ये प्राण ही आदित्य हैं। ये ही इन शब्द, रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श आदि विषय समूहों को ग्रहण करते हैं। अतः ६८ वर्ष से लेकर ११६ वें वर्ष के बीच में पुरुष को कोई रोगादि कष्ट दे तो उसे इस प्रकार प्रार्थना करनी चाहिये—"हे मेरे प्राण रूप आदित्यगण! मेरे इस तृतीय सवन को आयु के साथ एकी-भूत कर दो। अर्थात् ११६ वर्ष की आयु पर्यन्त मुझे रोग शोक आदि को कष्ट न हो यज्ञ स्वरूप वाला जो मैं हूँ, वह ११६ वर्ष के मध्य में अर्थात् प्राण रूप आदित्यों के काल में नष्ट न होऊँ। अर्थात् ११६ वर्ष पर्यन्त मृत्यु को प्राप्त न होऊँ। इस प्रकार जो यज्ञ के तीनों सवन स्वरूप आत्मयज्ञ की उपासना करता है, ऐसा उपासक कष्टों से छूट जाता है और पूर्णायु पर्यन्त नीरोग हो जाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! इस आत्म यज्ञोपासना करके किसी ने पूर्णायु नीरोगता व्यतीत भी की है क्या?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! की न होती, तो भगवती श्रुति इसकी आज्ञा ही क्यों देती। इतरा के पुत्र ऐतरेय महामुनि ने जो महिदास के नाम से भी प्रसिद्ध हैं, वे इस पुरुषयज्ञ विद्या के ज्ञाता थे। एक बार किसी रोग ने आकर उन्हें कष्ट दिया। तब वे रोग से गर्जकर निर्भय होकर बोले—"अरे, ओ रोग! तू मुझे क्यों कष्ट दे रहा है, तू सोचता होगा, मैं रोग से पीड़ित करके इन्हें मार डालूँगा।" देख मैं तेरे द्वारा कदापि मृत्यु को प्राप्त नहीं हो सकता। क्योंकि मैं आत्मयज्ञोपासना का ज्ञाता हूँ। मेरी पूर्णायु पर्यन्त मुझे कोई भी रोग मार नहीं सकता।" उनकी ऐसी दृढ़ निष्ठा और आत्मयज्ञोपासना के प्रभाव से वे एक सौ सोलह वर्ष पर्यन्त जीवित रहे थे। इसलिये जो भी इस उपासना को जानकर इसका आचरण करता है। वह निश्चय ही ११६ वर्ष तक जीवित रहता है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यह मैंने आत्मयज्ञोपासना कही, आगे मैं पुनः अक्षयफल देने वाली आत्मयज्ञोपासना को कहूँगा। आशा है आप इसे ध्यान पूर्वक श्रवण करेंगे।"

छप्पय

(१)

मध्यन्दिन जो सवन छन्द जगती है ताकी।
अक्षर चौवालीस वर्ण सीमा है वाकी॥
देव रुद्र ही प्राण रुवावें सब प्राणिनिकूँ।
जामें होवे रोग रुद्र विनवे प्राणनिकूँ॥
रुद्र! मध्यदिन सवन कूँ, तृतिय सवन में बदल दें।
कबहूँ नष्ट होऊ नहीं, तन निरोगता तुरत दें॥

(२)

तीसर सायंसवन छन्द जगती ताकी है।
अक्षर अड़तालीस वर्ष अवधी बाकी है॥
देव कहे आदित्य प्राण आदित्य कहावैं।
जामें होवै रोग विनय करि देव मनावैं॥
प्राणरूप आदित्यगण, तृतिय आयु में वदल दें।
नहीं नष्ट इहि सवन में, ऐसी आशिश आयु दें॥

(३)

एतरेय महिदास आत्म विद्या के ज्ञाता।
करि उपासना आत्म भये रोगनि के त्राता॥
रोगनि तैं तिनि कही–देउ संताप न हमकूँ।
हौं तुम तैं नहि मरूँ भगाऊँ अवई तुमकूँ॥
दृढ़ निश्चय ऐसो करयो, जीये सोलह बरस शत।
करि उपासना जिये नर, बरस सोलह और शत॥

—:—

आत्मयज्ञ के अत्यादि फल देने वाले शेष अङ्ग

[१४८]

स यदशिशिषति यत्पिपासति यन्न रमते ता अस्य दीक्षाः॥*
(छां० उ० ३ प्र० १७ ख० १ मं)

छप्पय

यज्ञ माहिँ मुनि कही प्रथम दीक्षा तन में जो।
उदासीनता भूख प्यास दीक्षा सम है सो॥
खान, पान रति सदृश कहावें उपसद सबई।
हँसे, खाय, जो मिथुन होइ स्तुत शस्त्र सरिसई॥
करे तपस्या दान बहु, सत्य वचन अरु सरलता।
जीवनि की हिंसा नहीं, पाइँ दक्षिणा साम्यता॥

यज्ञों में कुछ प्रधान कर्म होते हैं—जैसे यज्ञ अभी किया नहीं, यज्ञ करने का विचार दृढ़कर लिया। यज्ञ के समस्त संभार एकत्रित कर लिये, ज्योतिषी को बुलाकर मुहूर्त निकलवा लिया। फिर यजमान संकल्पपूर्वक यज्ञ की दीक्षा लेता है। दीक्षा में समस्त शास्त्रीय सदाचारों का पालन करता है। एक बार भूख प्यास सहकर परिमित सात्विक आहार किया जाय, मृगचर्म ओढ़

---

* इस पुरुष को जो भूख लगती है, प्यास लगती है, उदासीन रहता है, वही मानों आत्म यज्ञ की दीक्षा है।

कर मृग का सींग हाथ में धारण करके बैठा जाय। भूमि पर शयन किया जाय। पत्नी के साथ रहने पर भी दृढ़ता से ब्रह्मचर्य का पालन किया जाय। किसी पर कभी क्रोध न करे आदि-आदि बहुत से कठोर नियमों का यज्ञ में दीक्षा लेने वाले दीक्षित यजमान को पालन करना पड़ता है।

यज्ञों में होता, अध्वर्यु, उद्‌गाता और ब्रह्मा ये चार ऋत्विक तो प्रधान होते हैं। १२ इनके सहायक कार्यकर्त्ता ऋत्विक होते हैं। वे सब उपसद कहलाते हैं। उन्हें केवल दुग्ध पान करके यज्ञीय कार्य करना पड़ता है। उपसद यज्ञ की तीन इष्टियों का भी नाम है। किन्तु यहाँ उपसद दुग्ध पान करके रहने वाले कायकर्ता ऋत्विजों से ही अभिप्राय है।

यज्ञ में जो होता, उद्‌गाता, और अध्वर्यु जिन वेद मन्त्रों का गान करते हैं, वे शस्त्र, इज्या स्तुति स्तोम और प्रायश्चित्त कहलाते हैं। सामवेद का गायन करने वाला जिन ऋचाओं का गान करता है, वे स्तुति कहलाती हैं, जिनका गान उद्‌गाता न करके अन्य वेदों वाले ऋत्विज गाते हैं वे शस्त्र कहलाते हैं।

यज्ञों में दक्षिणा भी प्रधान कर्म है। यज्ञ के सकुशल सम्पन्न हो जाने पर यजमान परम प्रमुदित होकर परम उदारता के साथ यज्ञकर्ताओं को विपुल दक्षिणा देकर हर्षित होता है और ऋत्विज भी यथेष्ट दक्षिणा पाकर परम आह्लादित होते हैं। दक्षिणा काल दोनों ओर से परम सुखप्रद होता है।

यज्ञों में यज्ञानुष्ठान कर्म होता है जैसे सोम याग में सोम को तैयार करने के लिये सोम वल्ली आदि को लाना, उसे कूट-कूटकर उसका रस निकालना। फिर रस को निकालकर उसे यज्ञ स्थान में लाकर रखना है। फिर देवताओं को सोमपान कराते हैं।

जब यज्ञ सम्पन्न हो जाता है, तब यज्ञ के सब कृत्यों के

अनन्तर यजमान ऋत्विज सभ्य सदस्य तथा परिवार आदि के सभी स्वजनों सहित, गाजे बाजे के साथ जलाशय तीर्थ स्थान में जाकर यज्ञान्त अवभृत स्नान करता है। इस अवभृत स्नान का यज्ञों में बड़ा महत्व होता है। इस स्नान में सम्मिलित होने वाले सभी लोगों को पुण्य प्राप्त होता है। अतः यज्ञों में दीक्षा धारण करना यज्ञ का प्रथम कर्म है और अवभृत स्नान अन्तिम कर्म है। इनकी पुरुष शरीर में समता करके अक्षयादि फल देने वाली आत्म यज्ञोपासना का ही पुनः वर्णन करते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! पिछले प्रकरण में मैंने पुरुष की यज्ञ रूप मे उपासना का वर्णन किया। अब इस आगे के प्रकरण में यज्ञ की अवशिष्ट अन्य अंगों के साथ पुरुष की यज्ञरूप में उपासना का वर्णन करता हूँ।"

यज्ञों में सर्वप्रथम प्रधान कर्म यज्ञ की 'दीक्षा' होती है। इस पुरुष शरीर में दीक्षा क्या है? पुरुष को जो भूख लगती है, प्यास लगती है। समय पर भोजन न मिलने से, समय पर पेय पदार्थ न मिलने से जो मन में एक प्रकार की अप्रसन्नता, उदासीनता आ जाती है, वही मानों इस पुरुष शरीर में दीक्षा है। उस उदासीनता, अप्रसन्नता को ही आत्मयज्ञ की दीक्षा समझे।

यज्ञों में जो यज्ञ के कार्यकर्ता हैं, वे उपसद कहलाते हैं। इस शरीर में समय पर अनुकूल भोजन मिलने पर उसे तृप्ति पूर्वक खा लेना, अनुकूल पान पदार्थ प्राप्त होने पर प्रसन्नता पूर्वक उन्हें पी लेना। अपनी धर्मपत्नी में ऋतुकाल में रति सुख का अनुभव करना ही मानों यज्ञ के उपसदों के समान है। इन कर्मों में यज्ञीय उपसदों की भावना करे।

यज्ञों में उद्गाता के मुख से स्तुत–सामगायन के मन्त्र सुनकर–तथा अन्य ऋत्विजों के मुख से शस्त्र–साम के अतिरिक्त

अन्य मंत्र सुनकर जो प्रसन्नता होती है। इस मानव शरीर में वैसी ही प्रसन्नता खिलखिलाकर हँसने से, अनुकूल पदार्थों के भक्षण से, तथा धर्मपत्नी में मैथुन से होती है। अतः इन कर्मों में स्तुत-साम गायन, शस्त्र-अन्य मन्त्रों के गायन की भावना करे।

यज्ञों में दक्षिणा देकर लेकर यजमान तथा ऋत्विजों को प्रसन्नता होती है, उसी प्रकार इस शरीर में धर्म की पुष्टि के निमित्त जो तप, दान, आर्जव, अहिंसा और सत्य वचन इन सद्-गुणों का आचरण किया जाता है, इन्हीं सत्कर्मों की यज्ञ की दक्षिणा के साथ तुलना की गयी है। क्योंकि पुरुष को इन कर्मों के करने से इस लोक में तथा परलोक में भी सुख की प्राप्ति होती है।

पहिले तपस्या को ही ले लीजिये। एक व्यक्ति को दंड स्वरूप एक दिन भोजन न दिया जाय, तो उसे भूख के कारण कितना कष्ट होता है। वही उपवास स्वेच्छा से-धर्म पालन पूर्वक लम्बे से लम्बा किया जाय, उसमें करने वाले को आन्तरिक प्रसन्नता होती है, लोग प्रसन्नतापूर्वक कृच्छ्र चान्द्रायण, पराक् आदि व्रतों को करते हैं। अतः स्वेच्छा से-प्रभु प्रीत्यर्थ-धर्म भावना पूर्वक जो शरीर को तपाते हुए शास्त्रानुकूल व्रत उपवास किये जाते हैं उन्हें तप कहते हैं। तपस्या द्वारा सभी कुछ संभव है, तपस्वी सब कुछ कर सकने में समर्थ होता है।

तपस्या से भी बढ़कर महत्त्व, दान का है। पैसा सरलता से प्राप्त नहीं होता, प्राणों का पण लगाकर पैसा मिलता है। प्रत्येक व्यापार में प्राणों का पण लगाना पड़ता है। व्यापारी पोतों पर चढ़कर समुद्र के उस पार जाते हैं। कब समुद्र में तूफान आ जाय, कब दस्यु का दल आकार आक्रमण कर ले, कब अपने ही साथी लोभवश विष दे दें। इन सब संभावनाओं के रहते हुए भी

व्यापारी प्राणों पर खेलकर सात समुद्र पार पैसा पैदा करने जाता है। घर वालों को और स्वयं भी उसे लौटने में सन्देह है। भाग्यवश घाटा नहीं हुआ लाभ ही हुआ सकुशल लौटकर घर आ गया। पैसा पैदा कर लाया। उस इतने कष्ट से न्यायोर्जित पैसे को क्लेश में पड़े हुए विद्वान् ब्राह्मण को श्रद्धा पूर्वक दान कर देता है। अथवा उसकी आवश्यकता की अन्य वस्तुएँ प्रसन्नता से देता है। या किसी भी दीन दुखी दरिद्र की मुक्त हस्त से सहायता करता है। इससे बड़ा त्याग और क्या होगा। अतः सत्पात्र को न्यायोर्जित द्रव्य देना सबसे श्रेष्ठ कर्म है।

दान से भी बढ़कर आर्जव है। आर्जव मृदुता कोमलता तथा समता को कहते हैं। चाहें अपना सगा पुत्र हो, मित्र हो, धर्मपत्नी हो अथवा अपना शत्रु ही क्यों न हो, शत्रु की बात तो पृथक, अपना आपा हो क्यों न हो। सब में जो समभाव रखता है। मन में विषमता आने ही नहीं देता इसी साम्यभाव का नाम आर्जव है। सबके साथ समानता का व्यवहार करे।

आर्जव से भी बढ़कर अहिंसा गुण है। किसी भी प्राणी को मन से, वचन से, तथा कर्म से पीड़ा न पहुँचाने का नाम अहिंसा है। हिंसा सबसे क्रूरकर्म है। वेद विधि से अतिरिक्त जो मन, वाणी तथा शरीर द्वारा किसी को भी किसी भी प्रकार का कष्ट पहुँचाया जाय अथवा शरीर से उसके प्राणों का वियोग करा दिया जाय, इसी का नाम हिंसा है। इसे न करने का ही नाम अहिंसा है। अहिंसक के समीप स्वाभाविक वैर वाले अपने वैर भाव को त्याग देते हैं। यही अहिंसा धर्म की विशेषता है।

अहिंसा से भी श्रेष्ठ गुण सत्य भाषण है। सत्य से बढ़कर कोई दूसरा धर्म नहीं है। जो जैसा देखा सुना है, उसे बिना किसी प्रकार के लगाव लपेट के प्रकट कर देने का ही नाम सत्य भाषण

है। बिना छल, कपट बनावट के जो जैसी बात हो, उसे कहना सत्य भाषण है। अथवा सत्य स्वरूप एकमात्र भगवान् ही हैं। मुख से सदा सर्वदा भगवान् के ही नाम का उच्चारण करते रहना यह भी सत्य भाषण का अर्थ है। ऐसे सत्य के समान सहस्रों अश्वमेध यज्ञ भी नहीं हो सकते। सत्य सबसे बढ़कर, सबसे उत्कृष्ट, सबसे श्रेष्ठ धर्म है।

इन सद्गुणों से बढ़कर और उत्तम दक्षिणा क्या हो सकती है। अतः इन सद्गुणों में ही दक्षिणा की भावना करे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने आत्मयज्ञ के अन्य अवशिष्ट अंगों का वर्णन किया। अब इस उपासना का फल क्या है। इसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

पुनर्जन्म जो देह यज्ञ अनुष्ठान कहावै।
होइ देह को अन्त न्हान अवभृत कहलावै॥
आत्म यज्ञ कूँ जानि उपासन सतत करै जो।
दिव्य अलौकिक महापुण्य फल पावै नर सो॥
मानुस की तो का कथा, कृष्ण देवकी तनय हू।
करि उपासना तृप्ति अति, भये परम सन्तुष्ट हू॥

—❀—

आत्मयज्ञोपासना की उत्कृष्टता तथा फल

(१४६)

तद्धैतद्घोर आङ्गिरसः कृष्णाय देवकीपुत्रायोक्त्वोवाचापिपास एव स बभूव सोऽन्तवेलायामेतत्त्रयं प्रतिपद्येताक्षितमस्यच्युतमसि प्राणसꣳशितमसीति तत्रैते द्वे ऋचौ भवतः ॥*

(छां० उ० ३ प्र० १७ ख० ६ म०)

छप्पय

घोर आंगिरस आत्म-यज्ञ श्री कृष्ण सुनायो।
भये तृप्त फिरि विद्या अन्य न चित्य चलायो॥
अन्त काल में मन्त्र तीनि जप करि सुख पावै।
अक्षित, अच्युत, अतिहि-सूक्ष्म प्राणहिँ नित ध्यावै॥
कहीं ऋचा द्वै वेद की, प्रथम भाव पहिले कहै।
दिव्य प्रात परकाश पर-ब्रह्म तेज सब एक है॥

---

* उसी आत्मयज्ञ को अङ्गिरा गोत्र में उत्पन्न घोर ऋषि ने देवकी नन्दन श्री कृष्णचन्द्र जी को सुनाया था जिससे वे अन्य विद्याओं के प्रति पिपासा हीन हो गये। अन्तिम वेला में तीन मन्त्रों का जप करना चाहिये। ऐसा कहा था—वे तीन ये हैं। तुम अक्षय हो, तुम अच्युत हो और तुम ही अतिसूक्ष्म प्राण हो। इस विषय की दो वैदिक ऋचायें हैं।

वास्तव में आत्म उपासना में दृढ़ निश्चय हो जाय, तो फिर जीव का जीवत्व ही नष्ट हो जाय, उसे फिर नाना योनियों में भटकना ही न पड़े। एक शैव भक्त ने शिवजी की मानसिक पूजा के प्रकरण में कहा है– "हे मेरे त्रिपुरारी ! भोले भाले शंकर ! तुम कहीं अन्यत्र थोड़े ही हो, तुम तो भगवती पार्वती के सहित आत्मभाव से मेरे शरीर में ही विराजमान हो। तुम आत्मस्वरूप हो। आत्मा रूप से आप तन में निवास करते हो। तुम्हारी अर्धाङ्गिनी गिरिराज कुमारी सुकुमारी पार्वती, मति रूप में बुद्धि बनकर विराजमान हैं। मेरे प्राण ही आपके नन्दी भृङ्गी आदि गण हैं। यह शरीर, शरीर नहीं है यह तो आपके रहने का मन्दिर कैलाश ही है। विषय भोगों की नाना प्रकार की रचना ही आप की पूजा है। निद्रा ही मानों आपकी योग समाधि है। यह जो शरीर का चलना फिरना है मानों यही आपकी परिक्रमा है, जितने जो शब्द बोले जाते हैं, वे ही आपके विनती के स्तोत्र हैं। इस प्रकार हे शम्भो ! मेरे द्वारा जो-जो भी कर्म किये जाते हैं, वे सब आपकी आराधना ही तो हैं।"

यह कितनी दिव्य आत्मोपासना है। अहङ्कार से विमूढ़ बना जीव अपने को कर्ता मानने लगता है, जो कर्ता मानेगा उसे कर्मों का फल भी भोगना पड़ेगा। जिसे कर्तापने का अभिमान नहीं। जो सबको प्रभु की आराधना ही मानता है, अपने को अव्यय, अच्युत, अतिसूक्ष्म प्राण अनुभव करता है। सब कर्मों को प्रभु पूजा ही अनुभव करता है। उसको बन्धन कैसे हो सकता है, उसे तृष्णा कैसे दुःख पहुँचा सकती है, पिपासा उसके समीप कैसे फटक सकती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! मैंने अक्षयादि फल देने वाली आत्मारूप यज्ञ की उपासना का वर्णन किया। यज्ञ के जितने अंग

हैं उनकी शरीर की क्रियाओं से तुलना करके उनकी उपासना बनायी। यज्ञ में एक यज्ञानुष्ठान होता है। अर्थात् हम यज्ञ करने वाले हैं, हम यज्ञ कर चुके। अर्थात् अनुष्ठान नहीं किया है उसका करने का संकल्प और अनुष्ठान पूर्ण हो गया, उसकी परिसमाप्ति कर्तृत्व सम्बन्धी परितृप्ति। जैसे स्त्री के गर्भवती होने पर सब लोग कहते हैं। यह सन्तान उत्पन्न करने वाली है। जब सन्तान उत्पन्न हो जाती है। तो कहते हैं—"यह सन्तान उत्पन्न कर चुकी। इसी प्रकार यज्ञों में कहते हैं अमुक ऋत्विज् सोम रस तैयार करेगा, जब वह सोमवल्ली को कूटकर उससे रस निकाल चुकता है, तब कहते हैं, उस ऋत्विज् ने सोम रस तैयार कर लिया। यह जो यज्ञानुष्ठान लक्षण है उसकी समता पुनर्जन्म से है। पुनर्जन्म शरीर का ही तो होता है। आत्मा तो, न मरता है, न जन्म लेता है। सूक्ष्म शरीर ही स्थूल शरीर का परित्याग करके अन्य स्थूल शरीर में प्रविष्ट हो जाता है। फिर पूछते हैं तब मरण की समता किससे की जाय।

मरण क्या है। पुराने वस्त्र को फेंककर नया वस्त्र धारण करने के सदृश ही मृत्यु है। (पुराने वस्त्र की परिसमाप्ति ही मृत्यु है।) यज्ञों में यज्ञ समाप्त होने पर जो दीक्षांत यज्ञ है, प्रधान याग समापक अपर यज्ञ है, यज्ञावशेष स्नान है उसी का नाम अवभृथ स्नान है। (अवभ्रियते अनेन=इति–अवभृथः) यज्ञों में जो न्यून अधिक दोष हो जाते हैं, उन दोषों की शान्ति के निमित्त जो शेष वर्तव्य होम है उसके अनन्तर अंतिम स्नान है वही अवभृत स्नान है। इस शरीर में उसकी तुलना मृत्यु से की गयी है। यही आत्म यज्ञ है। इससे ऐसा फल प्राप्त होता है, जिसका कभी क्षय नहीं होता।

शौनकजी ने पूछा—"इस उपासना को सूतजी! किसी ने किया भी है?"

सूतजी ने कहा—"हाँ भगवन्! किया क्यों नहीं भगवती श्रुति ने ही बताया है, कि महर्षि अंगिरा जो ब्रह्माजी के मुख से उत्पन्न हुए थे, जिनका विवाह महामुनि कर्दम की पुत्री श्रद्धा से हुआ था, जिनके उतथ्य और वृहस्पति दो पुत्र थे, सिनीवाली, कुहू और राका तीन पुत्रियाँ थीं। उन्हीं अंगिरा महर्षि के वंश में एक घोर नामक ऋषि हुए हैं। उन्होंने इस आत्मविद्या को देवकी नन्दन भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी को दिया था। इस विद्या को प्राप्त करके श्रीकृष्ण को फिर अन्य किसी भी विद्या के प्राप्त करने की तृष्णा नहीं रही। उनकी अन्य विद्याओं की पिपासा शान्त हो गयी, वे तृष्णाहीन बन गये। इस विद्या को जानने वाले को अन्त में तीन मन्त्रों का जप करना चाहिये, ऐसा घोर ऋषि का कथन है।"

शौनकजी ने पूछा—"वे तीन मंत्र कौन-कौन हैं और उनका भाव क्या है?"

सूतजी ने कहा—"मुनिवर! पहिले मंत्र का भाव तो यह है कि—'तू अक्षित है अर्थात् तेरा कभी क्षय नहीं हो सकता।[१] दूसरे मंत्र का भाव है—'तू कभी भी च्युत न होने वाला अच्युत है।[२] तीसरे मन्त्र का भाव है—'तू अत्यंत सूक्ष्मप्राण है। प्राण संशित है।[३] इन तीन मन्त्रों का अंतिम समय में-मरणकाल उपस्थित होने पर-जप करना चाहिये। इनके जप से अक्षय अच्युत और सूक्ष्माति सूक्ष्म हो जाता है।

इसकी महिमा के सम्बन्ध की ऋग्वेद में दो ऋचायें हैं। इन ऋचाओं को भी बताते हैं।

---

१ अक्षितमसि।
२ अच्युतमसि।
३ प्राणसंशितमसि।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! ऋग्वेद की जिन दो ऋचाओं को आप बतावेंगे क्या उनका भी जप करना चाहिये ?"

सूतजी ने कहा—"नहीं, भगवन ! जप करने की तो वे तीन ही ऋचायें हैं। ये दो ऋचायें तो आत्मयज्ञ उपासना की महिमा की हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"आत्मयज्ञ उपासना की महिमा की वे ऋग्वेद की दो ऋचायें कौन-कौन-सी है ? उनका भाव क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"एक का भाव तो यह है, कि आदि जो पुरातन रेत है–बीजभूत ब्रह्म है–उसकी ज्योति को–प्रकाश को–(विद्वान् लोग) देखते हैं। वासरम् (वत्) अर्थात् जैसे दिन के प्रकाश को सभी लोग प्रत्यक्ष देखते हैं। वह ज्योति परब्रह्म में स्थित परमतेज देदीप्यमान है।'[1]

दूसरी ऋचा का भाव यह है। अज्ञानरूप अन्धकार से ऊपर जो उत्कृष्ट प्रकाश है, उसे सम्यक् प्रकार से देखते हुए, सबसे उत्कृष्ट स्वर्ग को देखते हुए हम समस्त देवताओं में प्रकाशमान सूर्य ज्योति को जो सर्वोत्तम है उसे प्राप्त होवें।[2]

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! इस प्रकार जो इस आत्मयज्ञ उपासना के अक्षय फल को समझकर इसकी उपासना करता है और अन्त में पीछे बतायी तीन ऋचाओं का जप करता है, उसे अक्षय लोकों की प्राप्ति होती है। यह मैंने आत्म यज्ञोपासना की उत्कृष्टता तथा उस फल का वर्णन किया अब मन को ही ब्रह्म

---

१ आदित्प्रत्नस्य रेतसो ज्योतिः पश्यन्ति वासरम।
परो यदिध्यते दिवि ॥

२ उद्वयं तमसस्परि ज्योतिः पश्यन्त उत्तर ँस्व पश्यन्त उत्तरं देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥

मानकर अध्यात्म दृष्टि से चतुष्पाद ब्रह्म की, तथा आकाश को ही ब्रह्म मानकर आधिदैवत दृष्टि से जैसे ब्रह्म की उपासना की जाती है, इस विषय का वर्णन मैं आगे करूँगा। आप सब इस विषय को समाहित चित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

द्वितिय ऋचा को भाव कहे तमतें अतीत जो।
उत्तम ज्योति निहारि परम उत्कृष्ट स्वर्ग जो॥
सब देवनि तें श्रेष्ठ परम उत्तम प्रकाश वर।
उत्तम ज्योति स्वरूप तेज कूँ प्राप्त करें नर॥
अक्षय फल जो देत है, आत्म यज्ञ सबतें उपरि।
पाइँ उपासक ज्योति पर, उपासना इहि भाँति करि॥

इति छान्दोग्य उपनिषद् के द्वितीय अध्याय में
सत्रहवाँ खण्ड समाप्त।

मन की अध्यात्मरूप से, आकाश की आधिदैवतरूप से ब्रह्मोपासना

[१५०]

मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यध्यात्ममथाधिदैवतमाकाशो ब्रह्मेत्युभयमादिष्टं भवत्यध्यात्मं चाधिदैवतं च ॥*

(छा० उ० ३ प्र० १८ ख० १ मं०)

छप्पय

ब्रह्म मनहिँ कूँ मानि करै अध्यात्म उपासन ।
आकाशहि है ब्रह्म कही अधिदैव उपासन ॥
करण, प्राण, अरुवाक, चक्षु यह चारि पाद मन ।
अग्नि, वायु, आदित्य, दिशा–आकाश ब्रह्म धन ॥
वाक् ब्रह्म को पाद यह, दीप्त अग्नि तैं ही कहै ।
ब्रह्मतेज, यश, कीर्ति अरु, परम प्रकाशहिँ नर लहै ॥

शास्त्र का एक वचन है, सहज वृत्ति में स्थित रहकर बिना किसी साधना के–यह अनुभव करे, गुण गुणों में वरत रहे हैं, मैं इन गुणों से परे गुणातीत, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वरूप हूँ ऐसा सदा अनुभव होता रहे यह प्रथम साधना है ।

---

* मन को ब्रह्म मानकर उपासना करे यह अध्यात्म दृष्टि है । अब आधिदैवत दृष्टि बताते हैं, आकाश ही ब्रह्म है । यह आधिदैवत है । इस प्रकार अध्यात्म और आधिदैवत दोनों को ही कहा गया ।

द्वितीय साधना है, कि आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार से शरीर को विशुद्ध बनाकर यम नियमों का दृढ़ता से पालन करते हुए ध्यान धारणा द्वारा समाधि सुख का अनुभव करते रहना।

तृतीय साधना यह है, कि समस्त संसारी विषयों से उपरत रहकर केवल भगवान् के श्री विग्रहों की सेवा में ही सतत संलग्न बना रहे। सेवा पूजा के संभारों को-प्रभु की पूजा की सामग्रियों को-जुटाने में उनकी अष्टयाम की पूजा में ही समस्त शरीर की क्रियाओं को लगा दे।

चतुर्थ साधना यह है, कि घर गृहस्थी के समस्त कार्यों को छोड़कर, घर-द्वार, कुटुम्ब, परिवार की सभी प्रकार की चिंताओं का परित्याग करके, बिना किसी प्रकार का संग्रह किये, निष्किंचन बनकर पुण्य तीर्थों की पैदल यात्रा करता रहे। भूख-प्यास, शीत-उष्ण, मान-अपमान, सुख-दुःख सबको समान मानकर सभी को सहन करते हुए पुण्यतीर्थों की यात्रा में ही लगा रहे। जहाँ भी सायंकाल हो जाय वहीं सो जाय, जो भी कुछ प्रारब्ध वशात् भोजन मिल जाय, उसी को खा ले। जो भी जैसा भी वस्त्र मिल जाय उसी को धारणकर ले। दिन भर चलते-चलते शरीर को थका डाले, इस प्रकार तितिक्षा द्वारा पुण्यतीर्थों की यात्रा करता रहे।

इन समस्त साधनों का एक ही उद्देश्य है। अनित्य, नाशवान्, क्षणभंगुर, शरीर का मोह छोड़कर नित्य, अविनाशी शाश्वत परब्रह्म में अपने मन को लगा देना। इन चारों प्रकार के साधनों में उत्तरोत्तर स्थूलता से उठकर सूक्ष्मता की ओर जाना है।

जीव प्रारब्धवश इधर-उधर भटकता रहता है, चारों धामों में परमात्मा को खोजता फिरता है। नाना वस्तुओं में सुख को ढूँढ़ता फिरता है। नहीं तो वास्तविक बात तो यह है, कि भगवान्

तो सबके हृदय में विराजमान हैं। यह शरीर भगवान् का मन्दिर है। इसमें भगवान्-ही भगवान् हैं। सुख वस्तुओं में नहीं है। सुख तो प्रेम में है, प्रेम कहीं बाहर भरा हुआ नहीं है। प्रेम का स्रोत तो अपने भीतर ही है। प्रेम की अजस्र धारा तो हृदय की गुफा मे फूट रही है। प्रेम और कोई दूसरी वस्तु नहीं। उन प्रभु का ही नाम प्रेम है। हरि को ही प्रेम कहते हैं। धूप कहो, सूर्य कहो एक ही बात है। प्रेम कहो, प्रभु कहो, हरि कहो, परमात्मा कहो, परब्रह्म कहो सब एक ही वस्तु है। उसे खोजने बाहर मत भटको, बाह्य पदार्थों में उसे मत खोजो, दृष्टि को भीतर की ओर करो। यह भटकने वाला मन ही ब्रह्म है। इस मन की ही उपासना करो। जिस आकाश में ये सब पदार्थ भरे हैं, वह आकाश ही ब्रह्म है। चाहें आकाशरूप में चाहें मन के रूप में उसकी उपासना करो, वह परब्रह्म वहीं तुम्हें छिपा हुआ मिल जायगा। जिस सुख की खोज में तुम इधर-उधर भटक रहे हो, वह तुम्हें इस शरीर के भीतर ही प्राप्त हो जायगा ? क्यों भटकते हो, क्यों बाहरी प्रयास करते हो, तनिक नेत्रों को मींच लो, बाहर से खींचकर दृष्टि को भीतर की ओर ले जाओ। अन्तर दृष्टि होते ही मन में छिपे मनमोहन हँस पड़ेंगे। लुका छिपी के खेल में हृदयांधकार में छिपे हुए श्यामसुन्दर प्रकाश होते ही प्रकट हो जायँगे। इस चोर मन की ही शरण में जाओ। इसी को ध्यान से देखो, यही अपना सद्मवेष त्यागकर मनमोहन बन जायगा। यही ठठाका मारकर हँसी के शब्द से बन्द हुए सुख के स्रोत को खोल देगा, उसी में अवगाहन करके तुम परम सुख-निरतिशय आनन्द-का अनुभव करने लगोगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आत्मयज्ञोपासना के अनन्तर मन और आकाश में अध्यात्म और आधिदैविक दृष्टि से उपा-

सना बतायी जाती है। अध्यात्म उसे कहते हैं जो आत्मा को ही अधिष्ठित मानकर कार्य किया हो। आधिदैवत उसे कहते हैं, जो देवताओं को ही अधिष्ठित मानकर कार्य किया जाय और आधि-भौतिक उसे कहते हैं, जो पृथ्वी, जल, तेज आदि भूतों को ही अधिष्ठित मानकर कार्य किया जाय। यहाँ प्रकरण उपासना का है, अतः पहिले अध्यात्म दृष्टि से ही उपासना बताते हैं।"

जिससे प्राणी मनन करता है, अन्तःकरण की उस वृत्ति का नाम मन है। कहीं मन से मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार इन चारों का ग्रहण होता है, कहीं मन से केवल मनन करने वाली वृत्ति ही ली जाती है। वास्तव में तो अन्तःकरण एक ही है। जब वह मनन करने लगता है तब उसकी मन संज्ञा हो जाती है, जब चिंतन करता है तब उसी को चित्त कहते हैं, वही जब निश्चय करता है, बुद्धि के नाम से बोला जाता है, और जब अहंकृति करता है, तो उसी का नाम अहंकार पड़ जाता है। मन के ही द्वारा ब्रह्म की उपलब्धि होती है। दुःख और सुख का कारण मन ही है। अतः उस मन को ही ब्रह्म मानकर उपासना करनी चाहिये। अन्तःकरण अत्यन्त सूक्ष्म है अतः यह मन की उपासना अध्यात्म उपासना है।

मन भीतर का अन्तः का करण–इन्द्रिय–है इसीलिये इसे अन्तःकरण–भीतर की इन्द्रिय–कहते हैं। आकाश मन से स्थूल है। आकाश देवता है अतः आकाश को ब्रह्म मानकर की जाने वाली उपासना आधिदैवत उपासना है। यहाँ अध्यात्म दृष्टि से तथा आधिदैवत दृष्टि से दोनों ही दृष्टियों से उपासना का वर्णन है। मन स्वयं तो कुछ करता नहीं, केवल आज्ञा देता है, दूसरों से कार्य कराता है। जैसे राजा स्वयं युद्ध स्थल में जाता भी नहीं, उसकी सेना युद्ध करती है, जय-पराजय राजा की ही

है। क्योंकि सेना राजा का अंग है। जैसे वृषभ स्वयं नहीं चलता पैरों के द्वारा चलता है, पैर उसके शरीर के अंग है। जैसे धर्म-रूप वृषभ के चार पैर होने से वह चतुष्पाद कहलाता है, उसी प्रकार यह मन संज्ञक ब्रह्म भी चतुष्पाद हैं।

शौनकजी ने पूछा—"मन संज्ञक ब्रह्म के चार पाद कौन-कौन हैं?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! जैसे धर्मरूप वृष के तप, शौच, दया और सत्य ये चार पाद होते हैं, वैसे ही मनरूप ब्रह्म के वाक्, प्राण, चक्षु और श्रोत ये चार पैर हैं। वाक् कहने से समस्त कर्मेन्द्रियाँ आ गयीं। प्राण कहने से दश प्राण और चक्षु श्रोत कहने से सभी ज्ञानेन्द्रियाँ आ गयीं। मन इन्हीं के द्वारा अपने समस्त कार्मों को करता है। यह तो अध्यात्म दृष्टि हुई।"

अब आधिदैवत दृष्टि से आकाश को ही ब्रह्म मानकर उपासना करनी चाहिये। पंचभूतों में आकाश अत्यन्त ही सूक्ष्म भूत है। पृथ्वी स्थूलभूत है। पृथ्वी की सभी इन्द्रियों द्वारा साक्षात्कार होता है। पृथ्वी का अपेक्षा जल सूक्ष्म है, जल सर्वत्र दृष्टिगोचर नहीं होता वह कूप, तालाब बावड़ी, नदियों और समुद्रों में ही दृष्टिगोचर होता है। प्राणियों के शरीर में भी जल होता है किन्तु वह दृष्टिगोचर नहीं होता, जल की अपेक्षा तेज सूक्ष्म है। वह सर्वव्यापक होने पर भी सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, तारा, अग्नि तथा जल में ही दीखता है। रात्रि के अन्धकार में इन्द्रियाँ उसका साक्षात्कार नहीं कर सकतीं। तेज से वायु सूक्ष्म है। स्पर्शेन्द्रिय के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियाँ उसका साक्षात्कार नहीं कर सकतीं। वायु से भी सूक्ष्म आकाश है। वह किसी भी इन्द्रिय से प्रत्यक्ष नहीं होता, अनुमान से ही जाना जाता है। यह देव अत्यन्त सूक्ष्म है। यह भी चार पैर वाला है।

शौनकजी ने पूछा—"आकाश ब्रह्म के चार पैर कौन-कौन से हैं ?"

सूतजी ने कहा—"अग्नि, वायु, आदित्य और दिशायें ये ही इसके चार पैर हैं। अग्नि से पृथ्वी, जल, को समझना चाहिये। वायु से ४९ मरुत्गण, आदित्य से समस्त ग्रह, नक्षत्र तथा तारागण और दिशा से दशों दिशाओं को समझना चाहिये। अग्नि, वायु, आदित्य और दिशायें ये सभी आकाश में व्याप्त हैं। आकाश इन्हीं चार पैरों द्वारा कार्य कराता है।"

शौनकजी ने पूछा—"चार मन ब्रह्म के और चार आकाश ब्रह्म के इस प्रकार ये तो आठ पैर हो गये ?"

हँसकर सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! आप भी ज्ञानी होकर ऐसी बात कहते हैं। भगवन्! पैर कहने से पाँच उँगली वाले पंजे ही थोड़े लिये जाते हैं। पंजा, टखना, जानु, उरु, नितंब ये सब पैरों के ही भाग हैं एक दूसरे से जुड़े रहते हैं। इसी प्रकार आकाश रूप ब्रह्म के अग्नि, वायु, आदित्य और दिशा रूपी पाद इनमें एकीभूत हैं। अध्यात्म दृष्टि और आधिदैव दृष्टि सब मिली-जुली है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! मिले-जुले कैसे रहते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! जैसे वाक् ब्रह्म का चौथा पैर है, वह अग्नि रूप ज्योति से दीप्त रहता है, दोनों मिले जुले हुए न ?"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! यह तो आप गड़बड़-सड़बड़ कर रहे हैं। वाक् को आप मन रूप ब्रह्म का चौथा पैर कैसे बता रहे हैं? पहिले तो आपने गिनाया था, वाक् पहिला पाद है, प्राण दूसरा पाद है, चक्षु तीसरा पाद है और श्रोत्र चौथा पाद है। अब आप वाक् को पहिला पैर न कहकर चौथा बता रहे हो, यह क्या बात है ?"

हँसकर सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! गौ के पैरों में लिखा थोड़े ही रहता है, कि यह पहिला पैर है, यह दूसरा पैर है, यह तीसरा या चौथा पैर है। चौथापन तो अपेक्षाकृत है। तीन की अपेक्षा सभी चौथे ही पैर हैं। अतः सभी को चौथा ही पैर कहा जायगा। ये परस्पर सटे कैसे हैं, इसे भी सुनिये। जैसे मन रूप ब्रह्म का चौथा वाणी है। मन वाणी द्वारा अपने भावों को व्यक्त करता है, कैसे करता है ? शरीर में जब तक उष्णता रहेगी, तभी तक वाणी निकलेगी। उष्णता जहाँ समाप्त हुई–जहाँ मनुष्य ठंडा पड़ा–उसकी बोलती बन्द हो जाती है। अतः भीतर की अग्नि रूप ज्योति से भासित उष्णता द्वारा ही वाणी का संचार होता है। जो जितना ही तेजस्वी होगा, उसकी वाणी भी उतनी ही तेजस्विनी उत्साहयुक्त होगी। तेजयुक्त पदार्थ–जैसे घृत, तैल शहद आदि से तेज बढ़ता है, वाणी में तेजस्विता आती है। अतः वाक् ब्रह्म का चौथा पाद अर्थात् एक पाद है। जो इस रहस्य को जानकर वाणी की अग्निरूप में उपासना करता है उसको चारों ओर कीर्ति फैल जाती है उसके मुख पर लोग उसका जय जयकार करते हैं। उसकी पींठ के पीछे लोग उसके यश का गान करते हैं, पींठ पीछे भी प्रशंसा करते रहते हैं। वह ब्रह्मतेज के कारण देदीप्यमान होता है। वह परम तेजस्वी होता है। यह ब्रह्म के एक पाद की अध्यात्म तथा आधिदैवत उपासना हुई।

मन रूप ब्रह्म का चौथा पाद—अर्थात् तीनों की अपेक्षा जो प्राणरूप एक पाद है, वह आकाश ब्रह्म की वायु रूप ज्योति से प्रकाशित होता है। अर्थात् प्राण वायु का ही स्वरूप है। बाहर की वायु को पवन कहते हैं वही वायु शरीर के भीतर दशधा होकर संचार करती है, तो उसकी प्राण संज्ञा हो जाती है। प्राण और वायु परस्पर में संश्लिष्ट हैं मिले-जुले एक

मन की अध्यात्मरूप से, आकाश की आधिदैवतरूप से

हीं हैं। जो इस रहस्य को जानकर दोनों की ब्रह्मभाव से उपासना करता है, उसे कीर्ति, यश, ब्रह्मतेज तथा प्रभाव की प्राप्ति होती है।

मन रूप ब्रह्म का जो चौथा पाद—तीनों की अपेक्षा चक्षुरूप एक पाद है, वह आकाश ब्रह्म के एक पाद आदित्य ज्योति से प्रकाशित होता है। अर्थात् नेत्रों में की ज्योति और सूर्य की ज्योति दोनों एक ही हैं। सूर्य की ज्योति आँखों में न रहे तो आँखों के गोलकों के रहने पर भी—आँखें खुली होने पर भी—सूर्य के रहते हुए भी आँखें देख नहीं सकतीं। यदि सूर्य दिखायी न दें सूर्यास्त के समय आँखों में ज्योति होने पर भी कुछ दिखायी नहीं देगा। इससे सिद्ध हुआ सूर्य अपनी ज्योति को नेत्र में रखकर अपने ही द्वारा देखता है। वही दृश्य है, वही द्रष्टा है। सूर्य और चक्षु परस्पर में संश्लिष्ट हैं। मिले-जुले एक हैं। जो इस रहस्य को समझकर सूर्य और नेत्र की ब्रह्मभाव से उपासना करता है उसे यश, कीर्ति, ब्रह्मतेज की प्राप्ति होती है इनके द्वारा वह तपता है।

मन रूप ब्रह्म का चौथा पाद—अर्थात् तीन की अपेक्षा श्रोत्र रूप ब्रह्म एक पाद है। वह दिशारूप ज्योति से प्रकाशित है। अर्थात् दशों दिशाओं में अवकाश न हो, तो कान सुन नहीं सकते। शब्द श्रवण आकाश के बिना—दिशाओं के बिना सुना ही नहीं जा सकता। अतः जो ज्योति दिशाओं में व्याप्त है, वही कानों में व्याप्त है। दिशायें और श्रवणशक्ति परस्पर में संश्लिष्ट हैं, मिली-जुली हैं जो इस रहस्य को जानकर श्रोत्र की दिशा रूप में ब्रह्म मानकर उपासना करता है उसे कीर्ति, यश, ब्रह्मतेज की प्राप्ति होती है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यह मैंने मन और आकाश रूप में ब्रह्म की उपासना बतायी, अब आगे आदित्य और

दृष्टि से ब्रह्म की अध्यात्म और आधिदैविक उपासना का वर्णन किया जायगा। यह उपासना इस तीसरे अध्याय की अन्तिम उपासना है। इसे आप सब दत्तचित्त होकर श्रवण करने की कृपा करें।"

छप्पय

प्राण मनोमय ब्रह्म पाद चौथो अति दीपित।
वायु ज्योति तैं युक्त तपै है जाय प्रकाशित॥
श्रोत्र मनोमय ब्रह्मपाद चौथो बतलायो।
दिशारूप जो ज्योति प्रकाशित तपत कहायो॥
आधिदैव अध्यात्म यह, करि उपासना थिर रहै।
ब्रह्मतेज, यश, कीर्ति अरु, परम प्रकाशहिं नर लहै॥

इति छान्दोग्य उपनिषद् के तृतीय अध्याय में
अठारहवाँ खण्ड समाप्त।

ब्रह्माण्ड और आदित्य की ब्रह्मरूप से उपासना

[१५१]

आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशस्तस्योपव्याख्यानमसदेवेदमग्र आसीत् । तत्सदासीत्तत्समभवत्तदाण्डं निरवर्तत तत्संवत्सरस्य मात्रामशयत तन्निरभिद्यत ते आण्डकपाले रजतं च सुवर्णं चाभवताम् ॥*

(छा० उ० ३ अ० १९ ख० १ मं०)

छप्पय

आदित्यहि है ब्रह्म असत् जग सत् पुनि प्रकट्यो ।
अंकुर अंडा बन्यो बरष भरि यों ही निबस्यो ॥
फूट्यो चाँदी स्वर्ग खण्ड द्वै भये निराले ।
रजत बनी भू स्वर्ण स्वर्ग बनि अमरनि पाले ॥
अंड जराय पहाड़ सब, उल्व मेघ कुहरा भयो ।
धमनि नदी जो बस्ति जल, सोई जलनिधि बनि गयो ॥

---

* आदित्य ही ब्रह्म है ऐसा आदेश है । उसका व्याख्यान यों है— पहिले यह असत् के सदृश था, फिर सत् होकर अंकुरित हुआ । अंडे के आकार का हो गया । संवत्सर पर्यन्त सोता रहा । तब फूट गया उससे दो खंड हो गये । एक चाँदी का खंड दूसरा सुवर्ण का खंड ।

पूर्वजन्मों के संस्कारों के कारण जीव व्यर्थ के मोह में फँस कर अपना हनन कर रहा है। जन्म मरण के चक्कर में पड़कर दुःख भोग रहा है। एक कोशकार कीड़ा होता है, वह मुख से सूत निकालकर अपने ही चारों ओर लपेटता रहता है, और उस चक्कर में स्वयं ही फँस जाता है। नहीं तो जीव रज वीर्य से पैदा हो जाते हैं। सोना, चाँदी मिट्टी ही हैं, लाल पीली सफेद मिट्टी की भाँति ये भी भूमि की खानों से निकलते हैं। पृथ्वी को न जाने कितने राजे महाराजे मेरी-मेरी कहकर मर गये। पृथ्वी किसी के भी साथ नहीं गयी। ये सब प्रकृति के विकार हैं। जीव अकेला आया है अकेला जायगा। पुत्र, परिवार, स्त्री, बच्चे, धन, पशु, भूमि, कीर्ति कोई भी साथ जाने वाली नहीं है। फिर भी जीव इन्हीं के मोह में पड़कर अपने जीवन को नष्ट कर रहा है। अरे, इन असत् पदार्थ में तुम क्यों मोह कर रहे हो। होने दो इन्हें नष्ट, जो नष्ट होने वाला है, वह नष्ट होगा। जिसने बनाया है, वही उसकी चिन्ता करेगा। तुम व्यर्थ में कर्ता न होकर भी कर्ता क्यों बनते हो। स्वामी न होते हुए भी स्वामीपने की टाँग क्यों अड़ाते हो। जीवन-मरण, सुख-दुःख, हानि-लाभ ये तो सब प्रकृति जनित द्वन्द्व हैं। तुम निर्द्वन्द्व ब्रह्म की शरण में जाओ। सृष्टि के कर्ता की शरण में जाओ उन्हीं की उपासना करो। जो सबको प्रकाश प्रदान कर रहा है। वह प्रकाश ही तो ब्रह्म है। अंधकार की उपासना करोगे-प्रकृति के पदार्थों में भटकोगे। प्रकाश की-ज्योति की-उपासना करोगे, प्रकाशमय बन जाओगे। सत् की उपासना करोगे, सत् हो जाओगे। असत् का चिन्तन करोगे, असत् हो जाओगे। इसलिये सत्-की उपासना करो, ज्योति की ओर बढ़ो। इसी का उपदेश भगवती श्रुति कर रही है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! सभी उपनिषद् बार-बार ज्योति

की उपासना को दुहरा रही है। यहाँ आदित्य को ही ब्रह्म मानकर उसकी उपासना पर पुनः-पुनः बल दे रही है। भगवती श्रुति कहती है-आदित्य को ही ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करनी चाहिये। प्रश्न यह है, कि ये आदित्य कौन हैं? कैसे प्रकट हुए?

यह जो दृश्यमान जगत् है, यह पहिले असत् था, फिर सत् बन गया।

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! यह आप कैसी बात कह रहे हैं। असत् भला सत् कैसे हो सकता है। असत् वस्तु का भाव नहीं होता और सत् का कभी अभाव नहीं होता। असत् सदा असत् ही रहेगा। सत् सदा सत् ही रहेगा।"

हँसकर सूतजी ने कहा—"भगवन्! असत् सत् के झगड़े में न पड़ें। यहाँ तो आप इतना ही जानें कि यह जो जगत् है, प्रलय के अन्त में असत्-सा दिखायी देता था, वह जीवों के कर्म भोगोन्मुख काल आते ही सत् अर्थात् सत्तावान् हो गया। कीचड़ जब सूख जाती है, तब उस कीचड़ में छिपे मेढ़क भी सूख जाते हैं। देखने में वे सर्वथा मृतक दिखायी देते हैं, जीवन का उनके शरीर में कोई लक्षण नहीं दीखता, किन्तु जब वर्षा से तालाब पानी से भर जाता है, तो मेढ़क पुनः जीवित होकर टर्र-टर्र करने लगते हैं। इसका अर्थ आप इतना ही समझें अव्यक्त से यह जगत् व्यक्त हो गया। निष्काम रूप में पड़ा जगत् कार्याभिमुख होकर कुल बुलाने लगा। पानी पड़ने पर जैसे मृतकवत् पड़े हुए बीज अंकुरित हो उठते हैं, उसी प्रकार यह असत् जगत् अंकुरित होकर हलचल युक्त हो गया। हलचल के पश्चात् गोल मटोल सिकुड़कर अंडाकार हो गया।"

शौनक जी ने पूछा—"जड़ से अंडा कैसे बन सकता है?"

सूतजी ने कहा—"जड़ चैतन्य वाली बात छोड़ दो। ब्रह्म ने ही अंडा का रूप रख लिया। इसीलिये उसका नाम ब्रह्म-अंड है। ब्रह्म ही अंडा बनकर ब्रह्माण्ड हो गया।"

शौनकजी ने कहा - भला ब्रह्म अंडा कैसे बन सकता है ? वह तो निराकार, निर्गुण, निर्विशेष, निरञ्जन, नित्य उत्पत्ति नाश से रहित है। बनना उसमें कैसे संभव है ?"

सूतजी ने कहा—"अब आगे कहने भी दोगे कि नहीं। अपनी ही बात कहते रहोगे। ब्रह्म को आप भी अपनी मनमानी परिभाषा में बाँधना चाहते हो। उसने निराकार, निर्गुण निर्विशेष नित्य निरञ्जन बनने का कोई पट्टा तो लिखा नहीं लिया है। वह किसी से भयभीत होने वाला नहीं वह सर्वसमर्थ, सर्वज्ञ सब कुछ कर्ता, सर्व और परिपूर्ण विरुद्धधर्माश्रयी है। अतः असत् से सत् हो जाने में उसे कोई रोक नहीं सकता। बात को आगे बढ़ने दीजिये। यदि निर्गुण निराकार निरामय है। तो उपासना कैसी बनेगी ? फिर तो मौन होकर बैठ जाइये। बैठना भी कैसे बनता है, व्यवहार में तो व्यवहार की ही भाँति वर्तना पड़ता है। यही समझो जो अब तक असत्–सा दीखता था वह अब सत्–सा होकर अण्डे के आकार में परिणित हो गया। बोलिये, आगे बढ़ूँ।"

शौनकजी ने कहा—"आप ने तो सर्वज्ञ, सर्वसमर्थ, विरुद्ध धर्माश्रयी कहकर हमारी बोलती ही बन्द कर दी। जब वह विरुद्धधर्माश्रयी है। सत् भी है और असत् भी है, तो अण्डा बन जाना कोई बड़ी बात नहीं। हाँ, कहिये अण्डे से बचा कैसे बना ?"

हँसकर सूतजी ने कहा—"महाराज ! आपने अंडे में से बचा निकलते देखा है ? अंडे के ऊपर एक लाल. सफेद छिलका होता

है। अंडे के ऊपर एक छोटा-सा छिद्र होता है। अंडा जब पक जाता है, तब अपने आप फूट जाता है। कच्चा अपने आप नहीं फूटता। अतः पकने के लिये यह अण्डा एक वर्ष पर्यन्त पड़ा रहा।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! अभी तो काल का विभाग भी नहीं हुआ था। कोई दूसरा गिनने वाला भी नहीं था। यह किसने गणना की कि ३६० दिन हो गये?"

यह सुनकर सूतजी खिलखिलाकर हँस पड़े। और बोले—"भगवन्! जनता के हित के निमित्त आप कैसे छोटे-छोटे बच्चों के जैसे प्रश्न पूछ बैठते हैं। ब्रह्मन्! एक वर्ष से यहाँ अभिप्राय ३६० दिन वाले वर्ष से नहीं है। वर्ष पूर्ण संख्या का वाचक है। इसका अभिप्राय इतना ही है, कि जितने समय की उसे अपेक्षा थी, जितने समय में वह पक सकता था, उतने पूर्णकाल तक पड़ा रहा। मानव शरीर में भी गर्भ १० महीने के लगभग में पकता है, उसकी भी वत्सर ही संज्ञा है, जो अंडे जितने समय में पकते हैं उनके लिये वही समय वत्सर है। कहिये, आगे चलूँ?"

शौनकजी ने कहा—"हाँ चलिये, एक वर्ष पश्चात् क्या हुआ?"

सूतजी ने कहा—"होना क्या था, पकने का जो परिणाम होता है, वही हुआ। पकने पर उस अंडे के दो भाग हो गये। बीच से फूट गया। नीचे का स्वच्छ सफेद भाग था, ऊपर की लाली लिए हुए। इसलिए सफेद मानों रजत खंड था। लाली लिये हुए ऊपर का सुवर्ण वर्ण का खंड। नीचे वाला खंड पृथ्वी हो गया, ऊपर वाला खंड स्वर्ग हो गया। बीच वाला तो अंतरिक्ष रह ही गया। अब अंडे में एक स्थूल वेष्टन होता है और एक नीचे सूक्ष्म गर्भ वेष्टन होता है। उनको जरायु और

उल्व कहते हैं। (उल्वेनावृत गर्भः) सभी गर्भ उल्व से आवृत रहते हैं, उसे भीतरी झिल्ली कहिये ऊपर का जो जरायु है उसी से सब पर्वत बन गये जो सूक्ष्म गर्भ वेष्टन उल्व है, उसी से मेघ और कुहरा हो गये जो अन्तरिक्ष में व्याप्त है।"

शौनक जी ने पूछा—"ये सब तो गर्भ के ढकने के उपकरण थे। गर्भ का क्या हुआ। बच्चा कौन-सा पैदा हुआ।

सूतजी ने कहा—"अब कहने भी दोगे कि नहीं, पहिले उपकरणों को तो समाप्त हो जाने दो। हाँ, तो उस गर्भगत पिंड में जो नाड़ी नसें-धमनियाँ रक्तवाहिनी स्नायुयें थीं वे ही नदियाँ हो गयीं, और उसके बस्ति स्थान में जो जल था वे ही समुद्र बन गये। जो बच्चा हुआ वही आदित्य है। जौ को बो दो जौ ही उत्पन्न होगा, कंद को बो दो उससे कंद ही होगी। ब्रह्म का अंडा था आदि अंड था। वह आदित्य ब्रह्म ही बच्चा रूप में हो गया। उसके उत्पन्न होते ही बड़ा बृहत् शब्द हुआ। उसी शब्द से ये सब चराचर-स्थावर जंगम प्राणी उत्पन्न हो गये। जितने शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श सम्बन्धी भोग हैं वे उत्पन्न हो गये। इसीलिये आज कल भी जब सूर्य उदय होता है तब एक प्रकार का शब्द होता है, सभी भोग पदार्थ प्राणी दीखने लगते हैं। सूर्यास्त के समय भी एक शब्द होता है, सभी पदार्थ अदृश्य से हो जाते हैं। सूर्य के उदय पर उदित और अस्त होने पर अस्त से दीखते हैं।"

जो इस रहस्य को जानकर इस प्रकार आदित्य में ब्रह्म की भावना करके उपासना करता है, वह स्वयं ही प्रकाशयुक्त आदित्यवत् हो जाता है। उसके समीप शीघ्र ही सुन्दर मनोरम घोष होने लगते हैं। अनहद के बहुत ही हृदय स्पर्शी विलक्षण मधुर शब्द सुनायी देते हैं, वे शब्द उसे सुख देते हैं, निश्चय ही सुख पहुँचाते हैं। आनन्द लाभ कराते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने आदित्य की ब्रह्म रूप में उपासना कही यहाँ पर छांदोग्य उपनिषद् का तीसरा अध्याय समाप्त हुआ। अब चौथे अध्याय में जैसे मुमुक्षु राजा जनश्रुति का तथा ज्ञानी महात्मा रैक्य का संवाद होगा उस उपाख्यान को मैं आगे सुनाऊँगा।"

छप्पय

अंड माहिँ आदित्य भयो पुनि शब्द वृहत् अति।
तातें प्राणी भये भोग प्रकटे जग दीसत॥
उदय अस्त रवि होत घोषयुत रव नित प्रकटत।
तबई प्राणी सकल भोग जग सगरो दीसत॥
ब्रह्मभाव आदित्य महँ, करें होइ आदित्य ही।
तिहि समीप हों स्वर मधुर, घोष देइ सुख नित्य ही॥

इति छांदोग्य उपनिषद् के तीसरे अध्याय में
उन्नीसवाँ खण्ड समाप्त।

तीसरा अध्याय समाप्त।

—::—

संवर्ग विद्या के ज्ञाता और जिज्ञासु राजा जानश्रुति और रैक्क की कथा

[१५२]

ॐ जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः श्रद्धादेयो बहुदायी बहुपाक्य आस। स ह सर्वत आवसथान्मापयाञ्चक्रे सर्वत एव मेऽत्स्यन्तीति ॥❀

(छा० उ० ४ अ० १ ख० १ म०)

छप्पय

जीवित जाके पिता पितामह जानश्रुति नृप।
अन्न क्षेत्र बहु खोलि धर्मशाला अरु जल प्रप॥
इकदिन उड़िकें हंस परस्पर कहें कथा सँग॥
सुनि, भैया भल्लाक्ष ! जानश्रुति तेज व्याप्त जग॥
करै तेज इस्पर्श तो, भस्म होइ जरिकें तुरत।
बोल्यो दूसर—शकटयुत-रैक्व सरिस नहिँ यह नृपति॥

❀ जनश्रुति राजा के वंश मे उनके पुत्र का पौत्र जानश्रुति नाम का राजा था, वह श्रद्धापूर्वक बहुत अधिक दान करने वाला था। उसके अन्न-क्षेत्र मे बहुत-सा अन्न दान के लिये पकता था। उसकी इच्छा थी, यहाँ आकर सभी लोग मेरा ही अन्न खायें, इसके निमित्त उसने बहुत से निवास स्थान बनवा दिये थे।

प्रत्येक वस्तु के अध्यात्म, आधिदैविक और आधिभौतिक तीन रूप होते हैं। उपासना में अध्यात्म आधिदैविक ही विशेष रूप से लिये जाते हैं। पिछले प्रकरण में मन को अध्यात्म मानकर तथा आकाश को आधिदैव मानकर उपासना बतायी। हृदयरूप आकाश में ही मन रहता है। अब आगे वायुदेव को ब्रह्म मानकर उपासना बताते हैं। वायु–अर्थात् बाहर बहने वाला पवन ही आधिदैवत है, और वही वायु जब दशधा होकर शरीर के भीतर विचरण करता है, तो वही प्राण के नाम से पुकारा जाता है, अतः प्राण अध्यात्म है। वायु सबको अपने में संग्रसन–संग्रहण–संवर्जन कर लेता है, अर्थात् पृथ्वी, जल, तथा तेज सबको लील जाता है–निगल लेता है–इसीलिये वायु के संवर्जन नाम के गुण के कारण वायु विद्या का नाम संवर्गविद्या है। ब्रह्म ही वायु है सब ही कुछ ब्रह्म है, अतः प्राण में–वायु में ब्रह्म भाव करके अध्यात्म तथा आधिदैवत उपासना करनी चाहिये। इस विषय के वर्णन के पूर्व एक सुन्दर आख्यायिका का वर्णन किया है। इससे यह विषय सुगमता से समझा जा सके और यह भी ज्ञात हो जाय कि विद्या कैसे अधिकारी को किस प्रकार दी जाती है तथा विद्या के जिज्ञासु को कैसे विद्या ग्रहण करनी चाहिये।

उपदेश तीन प्रकार से किया जाता है, राजा की भाँति शासन पूर्वक उपदेश, मित्र की भाँति प्रेमपूर्वक उपदेश और कान्ता के समान अनुराग से उपदेश। राजा अपने अधिकार से वहाँ पर आज्ञा निकाल देता है ऐसा करना ही चाहिये। लोग अनिच्छापूर्वक भी भय से उसकी आज्ञा को मानते हैं। बहुत से छिपे-छिपे उसके विरुद्ध भी आचरण करते हैं। मित्र हानि-लाभ समझाकर अत्यंत स्नेह से उपदेश करता है, उसे प्रेमवश मान लेते हैं, किन्तु अपनी धर्मपत्नी अत्यन्त अनुराग से हँसते-हँसते अपनी [illegible]

उपदेश करती है, कि वह अन्तःकरण में सीधा उतर जाता है। इसी प्रकार कथा, कहानी उपाख्यान तथा दृष्टान्त देकर जो विषय समझाया जाता है, वह सीधा हृदय में घुस जाता है, सरलता से विषय हृदयंगम हो जाता है। कुछ लोग ऐसा शुष्क उपदेश करते हैं, कि न उसमें एक भी कथा कहानी न दृष्टान्त। विषय को गूढ़ से गूढ़तम बनाते जाते हैं। कुछ लोग सरलता तो लाते हैं, किन्तु स्वर्ग नरक का लालच भय दिखाकर समझाते हैं, किन्तु कुछ लोग साधारण दृष्टान्त दे देकर इस सरलता, सरसता, मधुरता के साथ समझाते हैं, कि विषय अपने आप ही लीक करता हुआ मधुरता के साथ--रसगुल्ला की भाँति स्वतः ही सट्-से अपने आप लगे से नीचे उतर जाता है। इसीलिये भगवती श्रुति सरलता से समझाने के अभिप्राय से राजा जानश्रुति और महर्षि रैक्व का उपाख्यान आरंभ करती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब संवर्ग विद्या का भगवती श्रुति उपदेश करने की इच्छा से राजा जानश्रुति और रैक्व मुनि की कथा का आरम्भ करती है।

पहिले इस भारतवर्ष में महावृष नाम का एक जनपद था। उसमे जनश्रुति नाम के कोई प्रसिद्ध धर्मात्मा राजा थे। उन्हीं के नाम से वह वंश जानश्रुति कहलाया। महाराज जनश्रुति के पुत्र के पौत्र कोई जानश्रुति पौत्रायण राजा थे। प्रतीत होता है इन राजा के पिता, पितामह और प्रपितामह तीनों जीवित थे। जनश्रुति या तो इनके पिता का नाम होगा या प्रपितामह होंगे। पौत्रायण से यही लगता है, इसके पूर्वज जीवित थे, वे राज्य छोड़कर तपस्या करने वन चले गये होंगे इसे राजगद्दी सौंप गये होंगे। अस्तु—

ये राजा जानश्रुति पौत्रायण बड़े धर्मात्मा थे। जो दातृत्व

शक्ति प्रधान धर्मात्मा पुरुष होते हैं, उन्हें दूसरों को देने में बड़ी सुखानुभूति होती है। वे चाहते हैं, अधिक से अधिक व्यक्ति हमारी दी हुई वस्तुओं का उपभोग करें। जानश्रुति राजा भी चाहते थे बहुत मनुष्य मेरी वस्तुओं का उपभोग करें। उसने स्थान-स्थान पर बहुत से अन्नक्षेत्र खोल रखे थे। जिनमें अतिथि अभ्यागतों को भोजन कराने के निमित्त बहुत-सा अन्न पकाया जाता था। उसने अन्न क्षेत्रों के साथ रहने को सुन्दर-सुन्दर-आवास-धर्मशालायें-भी बनवा रखी थीं। जिनमें यात्रीगण आकर सुख-पूर्वक रहा करें और अन्नसत्र के भोजनालयों में भोजन भी करें। इस प्रकार उस धर्मात्मा राजा ने अतिथियों और यात्रियों की सुख सुविधा के सर्वत्र साधन उपलब्ध करा रखे थे।

इन धार्मिक कार्यों के कारण राजा की सर्वत्र बड़ी ख्याति हो गयी थी। अन्न दान से यश तथा कीर्ति की वृद्धि होती है, उसका प्रभाव-यश की ज्योति-सर्वत्र फैली हुई थी। धर्मात्मा पुरुषों को धर्म के कारण एक आन्तरिक तोष होता है।

एक दिन राजा जानश्रुति पौत्रायण गर्मी के दिनों में अपनी अटारी पर सुखपूर्वक शैया पर लेटा हुआ था। उसी समय कुछ हंस उड़कर आकाश में कहीं जा रहे थे। उनमें से जो आगे-आगे उड़ रहा था। उस हंस को सम्बोधन करके पीछे वाले हंस ने कहा—"अरे ओ! मन्द दृष्टि वाले भल्लाक्ष! सुनता नहीं है रे, तुझे दीखता नहीं, अंधा हो गया है क्या, बहुत उत्साह न दिखा, तुझे पता नहीं राजा जानश्रुति पौत्रायण का यश रूपी तेज दिग्-दिगान्तों में व्याप्त है। तू उसके समान होने की चेष्टा मत करे। राजा का प्रचण्ड यश रूप तेज कहीं तुझे भस्म न कर डाले ?"

यह सुनकर उस आगे वाले हंस ने अपने साथी से कहा—"भैया, तू तो मानो इस राजा जानश्रुति का भाट ही है। तू किस

आधार पर राजा को इतना सम्मान दे रहा है ? कौन-सी महत्त्व-पूर्ण बात के कारण राजा के प्रति ऐसे सम्मान सूचक वचनों का उच्चारण कर रहा है ?"

दूसरे हंस ने कहा—"तू देखता नहीं, राजा कितना धर्मात्मा है, यह निरन्तर पुण्यकर्म करके सभी के पुण्यों को अपने में आत्मसात कर रहा है। उसका यश स्वर्गलोक तक व्याप्त है।"

अग्रगामी हंस ने कहा—"रहने भी दो अधिक प्रशंसा की आवश्यकता नहीं। क्या यह राजा गाड़ी वाले रैक्व की बराबरी कर सकता है। तुम इसकी रैक्व के साथ समानता करते हो क्या ?"

इस पर पीछे वाले हंस ने कहा—"भैया, जिस गाड़ी वाले रैक्व को तुम इस राजा से अधिक धर्मात्मा बता रहे हो, वह रैक्व है कौन ? वह कैसा है ? उसमें इस राजा से कौन-सी विशे-षता है ?"

इस पर अग्रगामी भल्लाक्ष नाम का हंस कहने लगा—"देखो, भैया ! जो बड़ी वस्तु होती है, वह छोटी वस्तुओं को भी अपने में बटोर लेती है। जैसे द्यूत क्रीड़ा में कलि, द्वापर, त्रेता और कृत नाम के चार पासे होते हैं। कलि नामक पासे में एक अंक अंकित होता है। द्वापर में दो, त्रेता में तीन और कृत में चार चिह्न चिन्हित होते हैं। किसी जूआ खेलने वाले का यदि कृतनामक-चार अंकों वाला--पासा जय प्राप्त कर लेता है, तो शेष तीनों एक, दो, तीन अंकों वाले, कलि, द्वापर और त्रेता-नीचे वाले पासे उसे प्राप्त हो जाते हैं, अर्थात् उन छोटों का भी इन्हीं में समावेश हो जाता है। इसी प्रकार रैक्व अपनी उपासना द्वारा इतने महान् हो गये हैं, कि इस राज्य के प्रजाजन जो भी पुण्यकर्म-सत्कर्म-करते हैं, सबसे उत्कृष्ट होने के कारण वे सभी पुण्यकर्म उस गाड़ी

वाले रैक्व मुनि को ही प्राप्त हो जाते हैं। यह बात नहीं कि उन रैक्व मुनि को ही प्राप्त होते हों, उनके सदृश जो भी उपासना करेगा, उसे भी वैसा ही फल प्राप्त होगा। इसलिये यह बात मैंने केवल रैक्व मुनि के ही सम्बन्ध में नहीं कही, उनके सदृश जो भी उपासना करेगा उसके विषय में भी मैंने कह दिया। अर्थात् यह प्रशंसा मैंने उनकी उपासना की की। उनकी उपासना इतनी श्रेष्ठ है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! पुण्यकर्म करने वालों की सहायता करने में श्रेष्ठ पुरुषों को आनन्द होता है। प्रतीत ऐसा होता है, कि हंसरूप में कोई देवता या मुनि ही राजा को सावधान करने, उन्हें उपासना का अधिकारी समझकर रैक्व मुनि के समीप जाने की चेतावनी देने आये हों। राजा ने हंसों की बातें बहुत ध्यानपूर्वक श्रवण कीं। इन बातों में राजा की एक प्रकार से निंदा और गाड़ी वाले रैक्व मुनि की प्रशंसा छिपी हुई थी। अर्थात् रैक मुनि की उपासना के सम्मुख मेरे ये पुण्यकर्म अत्यंत तुच्छ हैं। इन बातों को सुनकर राजा को फिर निद्रा नहीं आई। वह रात्रि भर रैक मुनि के ही सम्बन्ध में सोचता रहा।"

प्राचीन परम्परा ऐसी थी, कि अरुणोदय वेला में राजा महाराजाओं को जगाने के लिये बन्दीगण आया करते थे। वे बन्दी उस राजा की तथा राजा के वंश के लोगों की ताल स्वर के साथ मधुर वाणी में वाद्यों के सहित स्तुति किया करते थे। बन्दियों के स्तुतियुक्त वचनों से राजा लोग जगाये जाते थे। नित्य नियमानुसार जानश्रुति पौत्रयण के बन्दी भी अरुणोदय में राजा को जगाने आये। वे राजा को सुन्दर पद्यों द्वारा स्तुति करने लगे। राजा तो जाग ही रहे थे। रैक की प्रशंसा उनकी नस-नस में व्याप्त हो गयी थी। अतः अपनी प्रशंसा सुनकर राजा ने बन्दियों

को रोकते हुए कहा—"अरे, भाइयो! तुम गाड़ी वाले रैक मुनि के सदृश मेरी झूठी प्रशंसा क्यों कर रहे हो?"

बन्दियों ने आज राजा के मुख से यह नयी ही बात सुनी। उन्होंने सोचा—"हमारे महाराजा से भी बढ़कर धर्मात्मा यह गाड़ी वाला रैक्व कौन है?" अतः उन बन्दियों में से एक सेवक ने पूछा—"राजन्! ये गाड़ी वाले रैक्व कौन हैं? कहाँ रहते हैं?"

राजा स्वयं गाड़ी वाले रैक्व को नहीं जानते थे, किन्तु वे उसको जानने के लिये उत्सुक थे, अतः उन्होंने हंसों के मुख से जो कुछ सुना वही सेवकों से कह दिया। हंसों की बातों को ही दुहराते हुए राजा ने कहा—"जैसे कृत नामक जूआ के पासे द्वारा जीते जाने पर शेष पासे उस विजित पुरुष के अधीन हो जाते हैं, वैसे ही प्रजाजनों द्वारा किये हुए समस्त सत्कर्म भी उन रैक्व की उपासना के प्रभाव से उनके अधीन हो जाते हैं। यहीं नहीं रैक्व की उपासना को जो कोई जानकर करता है, उसका भी ऐसा ही प्रभाव हो जाता है। रैक्व मुनि के सम्बन्ध में जो भी कुछ मैं जानता था, वह बतला दिया। वे एक गाड़ी लिये रहते हैं। तुम जाकर उन गाड़ी वाले रैक्व मुनि की खोज करो।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! राजा की आज्ञा पाकर और स्वयं भी रैक्व मुनि को जानने की इच्छा से सेवक जैसे उन्हें ढूँढ़ने जायगा, उस प्रसंग को मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय—*कौन रैक्व? मुनि कही-द्यूत में कृत पासो ज्यों।*
पासे सर्वाहिं अधीन होहिं विजयी के वह त्यों॥
प्रजा करै सत्कर्म रैक्व कूँ प्राप्त होइ फल।
विद्या जो संवर्ग सुज्ञाता रैक्व सकल भल॥
रैक्व ज्ञान जाने पुरुष, तेहू तिहि फल पाइकें।
जानश्रुति उठि कहत यों, सेवक तें हरषाइकें॥

रैक्व मुनि का पता

[१५३]

सोऽधस्ताच्छकटस्य पामानं कषमाणमुपोपविवेश तँ
हाभ्युवाद त्वं नु भगवः सयुग्वा रैक्व इत्यहँ ह्यरा३
इति ह प्रतिजज्ञे स ह क्षत्ताविदमिति प्रत्येयाय ॥*

(छां० उ० ४ अ० १ खं० ८ मं०)

छप्पय

रैक्व कौन, मुनि कहाँ रहैं तुम पतो लगाओ।
सेवक खोजन गये लौटि तिनि वृत्त बतायो॥
रैक्व कहीं नहि मिले नृपति पुनि बोल्यो बानी।
मूरख! वन गिरि नदी निकट खोजो जित ज्ञानी॥
पुनि वन में सेवक लख्यो, खाज खुजावत रैक्व मुनि।
छकरा के नीचे परयो, बोल्यो तातैं प्रश्न सुनि॥

ज्ञानी पुरुष वेष से भी–चिन्हों द्वारा भी–त्यागी संन्यासी हों

---

* खोज करने वाले सेवक ने एकान्त स्थान में एक छकड़े के नीचे खाज को खुजाते हुए एक व्यक्ति को देखा। सेवक उनके समीप जाकर बैठगया और बड़ी नम्रता से उनसे पूछने लगा—"क्या भगवन्! छकड़ा लेकर घूमने वाले रैक्व मुनि आप ही हैं क्या? तब वे बोले—'अरे, जिस रैक्व को तू खोज रहा है वह रैक्व मैं ही हूँ। मुनि के हाँ कहकर स्वीकार करने से सेवक पता लगने पर राजा के समीप लौट आया।"

यह आवश्यक नहीं। ज्ञानी सभी आश्रमों में हो सकते हैं। ज्ञानी के लिये चिन्ह धारण की कोई आवश्यकता नहीं। लोक संग्रहणार्थ यदि वह चिन्ह धारण करता है, तो कोई आपत्ति भी नहीं। उस ज्ञानी का चिन्ह धारण में, चिन्ह न धारण में कोई आग्रह नहीं। ज्ञान होने पर संचित और क्रियमाण कर्म तो ज्ञान रूपी अग्नि में भस्म हो जाते हैं, किन्तु ज्ञान होने पर भी प्रारब्ध कर्म नष्ट नहीं होते हैं। यहाँ तक कि जीवनमुक्त पुरुष भी अभिमान शून्य होकर–शरीर को धारण किये हुए प्रारब्ध कर्मों का भोग करते रहते हैं। कोई प्रारब्ध कर्म शेष रह जाता है, तो वे उसे भी संसारी लोगों की भाँति–अहङ्कार शून्य होकर–निर्लिप्त भाव से–उसका उपभोग करते हैं। ज्ञान ऐसा हीरा है कि वह कभी-कभी काले कोयलों की खानि में से भी प्रकट हो जाता है। प्रारब्ध भोगों को मन सहित शरीर भोगता है, आत्मा से तो उसका कोई सम्बन्ध है नहीं। आत्मा तो अकर्ता, अभोक्ता, निर्द्वन्द्व, निर्लेप, निरञ्जन तथा निष्कल्मष है। ज्ञानी की दृष्टि सदा आत्मा की ही ओर रहती है। प्रारब्ध कर्मानुसार बलात् भोग आ जाते हैं, तो ज्ञानी उन्हें प्रारब्ध कर्म समझकर स्वीकार करता है, किन्तु मूर्ख विषयी लोक में भोगों में अनुरक्त होकर भी अपने को निर्लिप्त ज्ञानी सिद्ध करते हैं, किन्तु ज्ञान की ज्योति जिसके हृदय में जग गयी है, वह ज्योति जैसे अंगारे पर राख आ जाने से कुछ काल के लिये ढकी-सी भले ही प्रतीत हो, वह ज्योति बुझती नहीं। काल पाकर चमक उठती है, उसी प्रकार ढोंग भी सदा बना नहीं रहता, कालान्तर में वह भी प्रकट हो ही जाता है। ज्ञान ऐसा हीरा है वह गुदड़ी में छिपाये से भी नहीं छिपता। कस्तूरी की गन्ध के समान उसकी गन्ध छिपाने से–साधारण वेष से–भी नहीं छिपती।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! रैक मुनि की प्रशंसा सुनकर राजा जानश्रुति पौत्रायण को कुछ आन्तरिक ईर्ष्या भी हुई होगी। धन का अभिमान सबसे बड़ा अभिमान होता है। धनी को यह भरोसा रहता है, कि मैं धन द्वारा समस्त भोगों को प्राप्त कर सकता हूँ, बड़े-बड़े विद्वानों को धन का लालच देकर क्रय कर सकता हूँ।"

धन में वैसे तो अनेक दोष हैं, किन्तु एक सबसे बड़ा दोष यह होता है, कि उसमें सर्व समर्पण की सामर्थ्य नहीं होती। कुछ रखकर ही देने की प्रवृत्ति होती है। एक महाराज वलि ही ऐसे हुए जिन्होंने सर्वस्व समर्पण कर दिया। सर्वस्व समर्पण के बिना भगवान् वश में नहीं होते। सम्पूर्ण जगत् भगवान् के वश में है, वे किसी के वश में होने वाले नहीं हैं, किन्तु जो अपना सर्वस्व समर्पण कर देता है, अपने आपे को भी उन्हें सौंप देता है, ऐसे भक्त के वश में भगवान् भी हो जाते हैं। उसे प्रारब्ध कर्मों के अनुसार वे भोग भी प्रदान कर देते हैं और मोक्ष भी दे देते हैं। भगवद्भक्त या ज्ञानी के हृदय में वैसे तो कभी संसारी भोगों की वासना उठती नहीं, क्योंकि ज्ञान होने पर अन्तःकरण निर्वासना हो ही जाता है, फिर भी प्रारब्धवश कोई वासना उठ भी जाय, तो भगवान् उसे पूर्ण कराके तब मोक्ष सुख देते हैं। महाराज वलि को इन्द्र बनने की इच्छा थी। कुछ भोग भोगने की भावना रही होगी। उसी बीच में भगवान् ने बलपूर्वक उनसे आत्मसमर्पण करा लिया। उसका सर्वस्व अपहरण कर लिया महाराज वलि ने स्वेच्छा से सब कुछ दे भी दिया। उसके गुरु ने उसे समझाया भी कि—"देखो, गृहस्थी का यह धर्म नहीं, कि सब कुछ दे डाले। सत्य पर ही दृढ़ रहे। कुछ बचाकर दो, पूरा मत दो। सत्य की व्यावहारिक व्याख्या करो।" किन्तु वलि

ने इसे कैतव धर्म–कपट का धर्म बताया। बचाकर देना कृपणता का चिन्ह है। धन से ही ज्ञानी को प्रसन्न करने की भावना अधम भावना है। देना हो, तो पूरा दो। बचाओ नहीं। ज्ञानी भूरिदा होते हैं, बहुत देते हैं। अल्प नहीं देते। क्योंकि अल्प में सुख नहीं सुख तो बहुत में है भूमा में है। राजा जानश्रुति पौत्रायण उस देश के धन वैभवसम्पन्न प्रभावशाली महाराजा थे। उनके पूर्व जन्म के सुकृत थे, कि उनमें दातृत्व शक्ति थी। दातृत्वशक्ति, प्रियवक्तृत्वशक्ति, धीरता और उचितज्ञता की शक्ति अभ्यास से नहीं आती पूर्वजन्मों के पुण्यों के कारण ये चारों स्वाभाविक सहज गुण होते हैं। राजा यथेष्ठ अन्नदान, गृहदान, जलदान, भूमिदान, करते थे, किन्तु सर्वव्यापक सर्वात्मा की उपासना से रहित थे। वे समझते थे, अर्थियों को अपने धन का अल्प भाग दान करके ही वे सर्वोत्तम अक्षय पुण्यलोक को प्राप्त कर लेंगे। उनकी दानशीलता के पुण्य से प्रभावित होकर हंस रूप रखे किन्हीं परमहंसों ने उन्हें रैक मुनि की प्रशंसा सुनाकर उनकी शरण में जाने को विवश कर दिया। अब तो राजा को रैक मुनि से साक्षात्कार करने की चटपटी लगी। उन्होंने अपने विश्वास पात्र सेवक से कहा—"रैक मुनि का जाकर पता लगाओ। निश्चय ही वे कहीं मेरे ही राज्य में रहते हैं। हंसों ने बार-बार उन्हें 'सयुग्वानम् सयुग्वानम्' कहा है, इससे प्रतीत होता है, वे सदा एक या दो बैल वाली गाड़ी साथ रखते होंगे। गाड़ी में ही सोते बैठते होंगे। तुम उनकी खोज करो।"

राजा की आज्ञा पाकर सेवक बड़े-बड़े नगरों में छोटी-छोटी राजधानियों में चौराहों में हाट बाट में रैक मुनि को खोजता रहा। कहीं भी उनका पता नहीं लगा, तब वह लौटकर राजा के पास

आया और हाथ जोड़कर बोला —"अन्नदाता ! मैंने सर्वत्र रैक मुनि की खोज की उनका कहीं भी मुझे पता नहीं लगा।"

राजा ने कहा—"तुम खोजने कहाँ-कहाँ गये थे ?"

सेवक ने कहा—"अमुक नगर में गया। अमुक राजधानी में गया। अमुक राजा के उद्यानों में खोजा। चौराहों पर, धर्मशालाओं में, हाटों में सर्वत्र मैंने उनकी खोज की। अच्छे-अच्छे सभ्य नागरिकों से उनका पता पूछा, किसी ने भी बताकर नहीं दिया।"

यह सुनकर राजा ने हँसकर कहा—"तुम महामूर्ख हो। अरे, ज्ञानी पुरुष नगरों में रहते हैं, हाट बाटों में अपनी प्रसिद्धि करते फिरते हैं, वे चौराहों पर नाम पट्टिका लगाकर विज्ञापन नहीं किया करते। अरे, वे तो जङ्गलों में, पुण्य तीर्थों में, वनों में, निर्जन स्थानों में, पर्वत कन्दराओं में गंगा यमुना जैसी परम पावन सरिताओं के तटों पर शान्त एकान्त स्थानों में रहा करते हैं। ऐसे पुण्य स्थलों में उनकी खोज करो।"

राजा के ऐसे वचन सुनकर सेवक पुनः खोजने चला। अब के वह पुण्य तीर्थों में, अरण्यों मे, पर्वतों की उपत्यकाओं में, पावन नदियों के किनारे-किनारे खोजने लगा। खोजते-खोजते एक दिन वह नदी के किनारे एक निर्जन स्थान में गया, वहाँ उसने एक सघन वृक्ष की छाया में एक छकड़ा खड़ा देखा। पास ही बैल चर रहा था। उस छकड़े के नीचे एक साधारण-सी चटाई बिछाकर एक साधारण-सा किन्तु तेजस्वी पुरुष बैठा था, उसके शरीर पर साधारण-सा एक वस्त्र लिपटा हुआ था, वह बैठा-बैठा अपने शरीर को खुजला रहा था।

छकड़े को देखकर राजसेवक को सन्देह हुआ, यहाँ एकान्त में ऐसे कोई गृहस्थ तो निश्चिन्त होकर पड़ा नहीं रह सकता।

हो न हो यही छकड़े वाला रैक मुनि तो नहीं है।" यह सोचकर वह उसके समीप पहुँचा। बिना किसी बाहरी चिन्ह के साधारण वेप में एक तेजस्वी पुरुप को देखकर वह उसके समीप गया। प्रणाम करके वह उसके समीप जाकर बैठ गया। उस व्यक्ति ने इससे कुछ भी नहीं पूछा, तू यहाँ क्यों बैठा है। जब उसने कुछ नहीं पूछा, तब इसी राजसेवक ने बात चलाते हुए पूछना आरम्भ किया। राजसेवक उसके तेज से प्रभावित होकर बड़ी ही नम्रता के साथ आदर पूर्वक पूछने लगा—"भगवन्! मैं एक रैक मुनि की खोज में हूँ, जो सदा गाड़ी अपने पास रखते हैं। गाड़ी तो आपके भी पास है। क्या रैक मुनि आप ही तो नहीं हैं?"

तब रैक मुनि ने अत्यन्त ही निर्भयता पूर्वक बिना शिष्टाचार के हँसते हुए ऐसे उत्तर दिया मानों वे सब बात पहिले से ही जानते हों कि राजा का सेवक मेरी ही खोज में घूम रहा है। वे बोले—"अरे, हाँ जिस रैक की खोज में तुम घूम रहे हो वह रैक मैं ही हूँ।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! जब निर्भय होकर रैक मुनि ने अपना स्पष्ट परिचय दे दिया, तो राजसेवक को बड़ी प्रसन्नता हुई। उसे इस बात से बड़ा सन्तोष हो गया मैंने रैक मुनि को पहिचान लिया। तब वह दौड़ा-दौड़ा राजा के समीप गया और उनसे जाकर समस्त वृत्तान्त बताया। रैक मुनि का पता लगने से राजा को बड़ी प्रसन्नता हुई। वे ६ सौ गौएँ, एक सुवर्ण का हार, एक सुन्दर रथ जिसमें बलवती खचरियाँ जुती हुई थीं। इतनी वस्तुएँ मुनि को भेंट करने के लिये लेकर रैक मुनि के समीप गये। राजा ने विधिपूर्वक मुनि को प्रणाम किया और निवेदन किया—"भगवन्! बड़े सौभाग्य की बात है कि जिन रैक मुनि की मैं चिरकाल से खोज में था, वे आप मुनिवर मुझे

मिल गये। मैं आपकी सेवा के लिये ये छः सौ गौएँ यह सुवर्ण-मंडित हार और यह सुपुष्ट खचरियों से युक्त रथ आपकी भेंट के निमित्त लाया हूँ। आप इन वस्तुओं को कृपा करके स्वीकार करें और मुझे उस देवता के सम्बन्ध में उपदेश करें जिसकी उपासना आप करते हैं। जिस उपासना द्वारा आपका इतना प्रभाव हो गया, कि प्रजा के जन जो सत्कर्म करते हैं, वे सब आप को प्राप्त हो जाते हैं।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यह सुनकर रैक मुनि ने राजा को निर्भय होकर बिना शील संकोच के डाँटा फटकारा। अब राजा में और रैक मुनि में जो सम्वाद हुआ उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

जिज्ञासा सुनि कही—नाम मम रैक्व ख्यात है।
सेवक ने नृप निकट आइ सब कही बात है॥
जानश्रुति बहु गाय हार खचर रथ लैकें।
मुनि ढिँग जाकें कह्यो विनय तें अवनत ह्वै कें॥
भगवन्! छै सौ धेनु धन, रथ स्वीकारें कृपा करि।
उपदेशें निज इष्ट कूँ, विनये मुनि पग शीश धरि॥

रैक्व मुनि द्वारा राजा जानश्रुति को संवर्ग विद्या का उपदेश

[१५४]

वायुर्वाव संवर्गो यदा वा अग्निरुद्वादयति वायुमेवाप्येति यदा सूर्योऽस्तमेति वायुमेवाप्येति यदा चन्द्रोऽस्तमेति वायुमेवाप्येति ॥*

(छा० उ० ४ प्र० ३ खं० १ मं०)

छप्पय

नहिं स्वीकारी वस्तु शूद्र सम्बोधन कीन्हों ।
पुनि दुहिता गो सहस हार रथ ग्राम हु दीन्हों ॥
दुहिता लखि सन्तुष्ट दई संवर्ग सु विद्या ।
कही वायु संवर्ग यही विद्या है आद्या ॥
लीन होइँ ये वायु में, अग्नि, चन्द्र, रवि, नीर सब ।
अधिदैवत यह दृष्टि है, सुनु दर्शन अध्यात्म अब ॥

---

* रैक्व मुनि राजा जानश्रुति पौत्रायण को संवर्ग विद्या का उपदेश करते हुए कहते हैं—"यह वायु ही संवर्ग है। अग्नि जब बुझने लगती है, तब वह वायु में ही लीन हो जाती है। जब सूर्य अस्त होने लगते हैं, तब वे भी वायु में ही लीन हो जाते हैं और इसी प्रकार जब चन्द्रमा भी अस्त होते हैं, तो ये भी वायु में ही लीन हो जाते हैं।"

शरीर में तो अहंता होती है। शरीर के अतिरिक्त जो वस्तुएँ हैं उनमें ममता होती है। ममतास्पद वस्तुओं में भी एक क्रम होता है। अपने घर के अन्नादि में ममता होती है, किन्तु पशु क्रय करना हो तो अन्न को देते हैं। अन्नादि की अपेक्षा पशुओं में ममता विशेष रहती है। जब विशेष धन की आवश्यकता होती है, तो पशुओं को भी बेच देते हैं। पशुओं की अपेक्षा धन में ममता अधिक होती है। अपना कोई आत्मीय पुरुष रुग्ण हो तो अथवा पद प्रतिष्ठा जाती हो, यश बढ़ाना हो तो धन को भी व्यय कर देते हैं। धन की अपेक्षा आत्मीय पुरुषों में यश कीर्ति में ममता अधिक होती है। अपनी संतान का कल्याण करना हो, तो मनुष्य, धन, यश कीर्ति की भी उपेक्षा कर देता है, और अपनी रक्षा करनी हो तो लोग संतान की भी उपेक्षा कर देते हैं। अतः शरीर में तो अहंता होती है और सबसे अधिक ममता संतान में होती है। पुत्र तथा पुत्री अपनी आत्मा ही हैं। अपने शरीर से उत्पन्न होने के कारण अपने शरीर के अङ्ग ही हैं। इसलिये जहाँ सन्तान को भी समर्पण करने की भावना हो जाय, वहाँ सबसे अधिक आत्मीयता मानी जाती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जानश्रुति पौत्रायण राजा को जब रैक मुनि का पता लग गया, तो वह उनसे उस विद्या का उपदेश लेने गया, जिसकी उपासना के प्रभाव से रैक की इतनी महिमा हो गयी थी। वह अपने धन का कुछ सूक्ष्म अंश भेंट करने ले गया ६ सौ गौएँ, एक हार, एक रथ देकर राजा ने रैक मुनि से प्रार्थना की—"आप जिस देवता की उपासना करते हैं, उसका उपदेश मुझे दें और इस भेंट को स्वीकार करें।"

इस पर रैक मुनि ने समझा यह राजा इस तुच्छ भेंट का लोभ देकर मुझसे विद्या ग्रहण करना चाहता है। थोड़ा देकर

बहुत लेने की इच्छा करना यह शूद्र का काम है। रैक मुनि तो ज्ञानी थे, वे निर्भय थे, उन्हें राजा हो महाराजा हो किसी का भय नहीं होता, जो अक्खड़ ज्ञानी होते है, वे शिष्टाचार की भी अपेक्षा नहीं करते। अतः रैक मुनि ने राजा को डाँटते हुए कहा—"अरे ओ शूद्र! गौओं सहित हार तथा खच्चरियों के रथ को तू अपने ही पास रख! मेरे लिये ये पर्याप्त नहीं!"

राजा जानश्रुति मुनि की बात से समझ गये, मैंने भेंट में सब चल सम्पत्ति ही दी है। अचल सम्पत्ति भूमि तथा परम आत्मीय सम्पत्ति संतान बचा रखी है। इसीलिये मुनि सन्तुष्ट नहीं हुए। अतः उन्होंने भेंट की सामग्री में वृद्धि की। छैः सौ के स्थान में गौओं की संख्या एक सहस्र कर दी। क्योंकि उन दिनों गोधन ही सर्वश्रेष्ठ धन माना जाता था, पर्याप्त गोचर भूमि पड़ी रहती थी। हार तो एक ही पर्याप्त है, रथ भी मुनि के लिये एक यथेष्ट है। हाँ, इन सबको रखने का स्थान भी तो देना चाहिये अतः जिस गाँव में रैक मुनि रहते थे, वह गाँव और उसके आस-पास की सहस्रों बीघा गोचर भूमि भी मुनि को देने का निश्चय किया। उस गाँव में सुन्दर घर भी मुनि को प्रदान करने का संकल्प किया। फिर सोचा–ईंट पत्थर के घर को ही घर नहीं कहते। वास्तव में गृहिणी का ही नाम घर है। एक गृहिणी के कारण ही सबका विस्तार होता है। गृहिणी में ही रेत का आधान करके पुरुष पुनः जायमान होता है, इसीलिये गृहिणी का नाम जाया है। अतः धर्मपत्नी के निमित्त उन्होंने अपनी कन्या को अपनी आत्मीया को–दान करने का निश्चय किया। अतः अब के सहस्र गौ, सुवर्ण हार, सुन्दर रथ, धनधान्य, गोचर भूमियुक्त ग्राम और जाया के हेतु अपनी पुत्री को भेंट करते हुए राजा ने कहा—"मुनिवर! इन सब वस्तुओं को ग्रहण करें। रहने के लिये यह ग्राम और पूरी भूमि

आपको समर्पण करता हूँ और धर्मपत्नी के लिये अपनी दुहिता-पुत्री-को आपके लिये देता हूँ, अब आप मुझे अवश्य उस विद्या में अनुशासित कीजिये, जिसकी उपासना से आप की इतनी महत्ता है।"

अब के मुनि ने सोचा—"राजा ने अपनी कन्या प्रदान करके मुझे विवशकर दिया। एक प्रकार से उसने आत्मसमर्पण ही कर दिया। यदि यह कन्या न देकर केवल चल सम्पत्ति धन ही देता, तो मैं इसे विद्या का अधिकारी नहीं मानता। यद्यपि अबके भी इसने चल सम्पत्ति दी है साथ ही ग्राम तथा अपनी कन्या भी प्रदान की है। यह कन्या ही इसके विद्या ग्रहण का द्वार है। अर्थात् इसी के द्वारा यह विद्या का अधिकारी बन सका है। अतः रैक ने फिर राजा से कहा—"काम तो फिर भी तुमने शूद्रों का ही किया है। अनित्य वस्तुओं से नित्यवस्तु की प्राप्ति करना चाहता है, किन्तु अबके तुमने अपनी आत्मीया-पुत्री प्रदान की है, यही विद्या ग्रहण का द्वार है। इसी के कारण तुम विद्या ग्रहण के अधिकारी हो गये हो। इस विद्याग्रहण के द्वार रूप कन्या के कारण ही तुम मुझसे भाषण करने के-विद्याग्रहण करने के-अधिकारी बन सके हो।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! रैक मुनि कन्यादान से संतुष्ट हैं, यह सोचकर राजा को प्रसन्नता हुई।" उन्होंने कहा—"भगवन्! मेरा जो यह महावृष देश है (संभवतया चित्रकूट के आस पास के वन, तथा प्रदेश) उसमें जिस ग्राम में आप निवास करते हैं (संभवतया बाल्मीक आश्रम के पास नदी के तट पर बसा रैपुरा ग्राम) वह ग्राम रैकपर्ण के नाम से प्रसिद्ध हो। आप मेरी कन्या को जाया रूप में स्वीकार करें और मुझे उपदेश दें।"

इस पर रैक मुनि ने कहा—"मैं संवर्ग विद्या की उपासना करता हूँ। इसी कारण मेरा इतना महत्त्व है।"

राजा ने कहा—"संवर्ग क्या है?"

रैक मुनि ने कहा—"वायु ही संवर्ग है।"

राजा ने पूछा—"वायु का नाम संवर्ग क्यों है?"

रैक मुनि ने कहा—"संग्रहण करने से–औरों को निगल जाने से–वायु संवर्ग कहलाती है।"

राजा ने पूछा—"वायु किसको ग्रसती है। किसको निगल जाती है।"

रैक मुनि ने कहा—"देखो, अग्नि जल रही है, जलते-जलते बुझ जाती है, बुझकर कहाँ जाती है? वायु में विलीन हो जाती है। वायु उसे ग्रस लेता है निगल लेता है। इसी प्रकार सूर्य उदय हो रहा है, सायंकाल में अस्त हो जाता है, अस्त होकर कहाँ जाता है? वायु में लीन हो जाता है। चन्द्रमा उदय हो रहा है, फिर अस्त हो जाता है, अस्त होकर कहाँ जाता है? वायु में लीन हो जाता है। अतः वायु ही संवर्ग है। वायु को ही ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करनी चाहिये। और देखो, तालाब में जल भर रहा है, कुछ काल में जल सूख जाता है, वह जल कहाँ जाता है? वायु में विलीन हो जाता है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! जल को तो वारितस्कर सूर्य चुरा ले जाते हैं।"

हँसकर सूतजी ने कहा—"भगवन! वायुदेव तो तस्कर के भी तस्कर हैं जब वे सूर्य को भी निगल जाते हैं, तो जल की तो बात ही क्या? वायु ही समस्त जलों को अपने में लीन कर लेता है। वायु सबसे बलवान् देवता है, इससे बढ़कर वेगवान् बलवान् सबको निगलने वाला देवता और कोई नहीं है। यह तो वायुदेव

की अधिदैवत उपासना हुई। अब अध्यात्म दृष्टि से वायु की उपासना बतायी जाती है।"

वायु का प्राण रूप ही उसकी अध्यात्म उपासना है, वायु जो भीतर शरीर में दशधा होकर विचरता रहता है। वह भी संवर्ग है। यह अध्यात्म दर्शन है।"

राजा ने पूछा—"प्राण किसको ग्रसता है, किसे निगलता है?"

रैक्व मुनि ने कहा—"जब पुरुष सोता है, तब बोलता नहीं, उसकी वाणी को प्राण अपने में लीन कर लेते हैं, सोते समय देखता भी नहीं, क्योंकि चक्षु को प्राण अपने में ग्रस लेते हैं। सोते समय सुनता भी नहीं, क्योंकि श्रोत को प्राण निगल लेते हैं, मन उस समय मनन करना बन्द कर देता है, क्योंकि मन को प्राण लील जाते हैं, इन सभी को प्राण अपने में लीन कर लेता है। इसलिये बाहरी वायु और भीतर के प्राण ये ही दो संवर्ग है। देवताओं में वायुदेव संवर्ग है उनकी उपासना आधिदैविक है। वही वायु भीतर में प्राण रूप से विचरता है, यह आध्यात्मिक संवर्ग उपासना है। इसी उपासना के कारण वायु और प्राण की उपासना से मेरा इतना महत्त्व है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने संवर्ग उपासना का वर्णन आप से किया। अब संवर्ग की स्तुति के सम्बन्ध में जो एक आख्यायिका है, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय—प्राण कहे संवर्ग पुरुष निद्रित होवै जब।
वाक्, चक्षु, मन श्रोत प्राणकूँ ग्रास होइँ सब॥
द्वै ई हैं संवर्ग, देव में वायु कहावैं।
इन्द्रिनि में है प्राण लीन सब इनि है जावैं॥
विद्या नहिँ जाके सरिस, सर्वगहि है श्रेष्ठ-सब।
कहूँ कथा इस्तुति परक, महिमा सुनि संवर्ग अब॥

संवर्ग की महिमा सम्बन्धिनी कथा

[१५५]

अथ ह शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिम् ।
परिविष्यमाणौ ब्रह्मचारी बिभिक्षे तस्मा उ ह न ददतुः ॥*

(छां० उ० ४ प्र० ३ ख० ५ मं०)

छप्पय

अभिप्रतारि-सुत कक्षसेन शौनक कापेयहु ।
भोजन परस्यो गयो तबहिँ आये ब्रमचारिहु ॥
भिक्षा माँगी आइ उभय भिक्षा दीन्हीं नहिँ ।
ब्रमचारी ने कही-प्रसे जिनि चार देव अहिँ ॥
सुनो ! भुवन गोप्ता पुरुष, बहुविधि करत निवास जो ।
ता देवहिँ जाने नहीं, जा हित अन्न न पाइ सो ॥

ब्रह्मचारी निश्चय करके वैश्वानर-अग्नि-का रूप है। ब्रह्मचर्य ही भुवनों की रक्षा करता है। अग्नि, सूर्य, चन्द्र और जल ये ब्रह्म चर्य के ही रूप है। अग्नि, सूर्य, चन्द्र ये प्रकाश है। वायु का पुत्र प्रकाश है, प्रकाश का पुत्र जल है। जल और प्रकाश ये वायु रूप

---

* एक बार की बात है, एक तो शौनक जो कपि गोत्रीय थे, दूसरे अभिप्रतारी जो कक्षसेन के सुत थे। वे भोजन करने बैठे। उन्हें भोजन परोसा जा चुका था, तभी एक ब्रह्मचारी भिक्षा माँगने आ गया। उसने भिक्षा माँगी, किन्तु इन दोनों ने उस ब्रह्मचारी को भिक्षा नहीं दी।

परब्रह्म में लीन हो जाते हैं। अतः ब्रह्मचर्य द्वारा ब्रह्मचारी ब्रह्म को प्राप्त होता है। भोजन अग्नि में ही पकाया जाता है और अग्नि के लिये-ब्रह्मचारी के लिये-पकाया जाता है। अतिथि, ब्रह्मचारी के भोजन करने के पश्चात् गृहस्थ आदि भोजन कर सकते हैं। ब्रह्मचारी भोजन करके ही सिद्धि प्राप्त करते हैं। शास्त्रों में भोजन का नियम बताया है। यति संन्यासी-केवल शरीर को टिकाये रहने को ही भोजन करें। उन्हें नित्य ही समचान्द्रायण व्रत करते रहना चाहिये सर्थात् नित्य गिनकर ८ ग्रास खावे। वानप्रस्थ को तप, अग्निहोत्रादि कर्म करने होते हैं, अतः वह १६ ग्रास नित्य खाये। गृहस्थ को बहुत कार्यों का सम्पादन करना पड़ता है, अतः वह ३२ ग्रास तक खा सकता है, किन्तु ब्रह्मचारी के लिये ग्रासों का कोई नियम नहीं वह यथेष्ट पेट भर के खा सकता है। यति वानप्रस्थी, को एक बार का ही नियम है, किन्तु ब्रह्मचारी को दोनों समय भिक्षा का विधान है। जब ब्रह्मचारी समझ ले, कि अब सद्गृहस्थों के यहाँ भोजन तैयार हो गया होगा, तभी वह गृहस्थियों के द्वार पर भिक्षा लेने पहुँच जाय, क्योंकि वास्तव में अन्न तो ब्रह्मचारियों के निमित्त ही पकाया जाता है उसके पा लेने पर उसके शेषान्न को पाने के सभी अधिकारी होते हैं। ब्रह्मचारी को बिना दिये जो स्वयं खा लेता है, वह पाप को खाता है। इसलिये सद्गृहस्थों के यहाँ अन्न का पाक हो जाने पर ब्रह्मचारी का उस पर सर्वप्रथम अधिकार है। इसलिये ब्रह्मचारी के आने पर भोजन के पूर्व उसे भिक्षा दे देनी ही चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! संवर्ग विद्या की महत्ता के सम्बन्ध में एक कथा है, उसे आपको सुनाता हूँ। एक शौनक नाम के ऋषि थे, वे एक बार राजा कक्षसेन के पुत्र अभिप्रतारी को ग्रास कराने गये।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! मैं तो किसी राजा का यज्ञ कराने जाता नहीं।"

हँसकर सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! आप तो कुलपति हैं। अन्य बहुत से याजक आप ही के यहाँ यज्ञ कराने आते हैं। आप तो भृगु गोत्रीय भार्गव हैं। ये शौनक दूसरे हैं ये कपि गोत्रीय हैं। प्रतीत होता है ये कर्मकांड में परम-स्नात तथा वेद विद्या में पारंगत थे। राजा चैत्ररथ को भी कपि गोत्रीय शौनकादि ऋत्विजों ने यज्ञ कराया था। ये संवर्ग विद्या के भी ज्ञाता थे। ब्राह्मणों के नाम के आगे प्रायः उनका गोत्र होता है और क्षत्रियों का परिचय उनके पिता से या उनके वंश मे कोई प्रसिद्ध पुरुष हो गये हो, उनके अपत्य सम्बन्ध से कराया जाता है। इसलिये आप तो भृगु गोत्रोत्पन्न हैं, ये शौनक कपिगोत्रोत्पन्न कापेय हैं।"

शौनकजी ने कहा—"यथार्थ है, अब आगे की कथा कहिये।"

सूतजी बोले—"हाँ तो यज्ञ कार्यों के अनन्तर पाचकों ने शौनक और अभिप्रतारी दोनों ऋत्विज और यजमान को भोजन के लिये बुलाया। ये दोनो आकर अपने-अपने आसनों पर प्रसाद पाने बैठ गये। पाचकों ने भाँति-भाँति के व्यंजन उन दोनों के सम्मुख परसे। जब सब सामग्री परस गयी, तभी एक तेजस्वी ब्रह्मचारी भिक्षा माँगने आया। उस ब्रह्मचारी के अपूर्व तेज को देखकर शौनक मुनि को उसकी उपासना के सम्बन्ध में जानने की जिज्ञासा हुई। वीणा है, तबला पखावज है तथा विद्वान् पंडित है, इनको जब तक छेड़ोगे नहीं, तनिक सी ठोकर न दोगे तब तक इनका मन मिलता नहीं। छेड़ने से ये मिल जाते हैं। अतः ब्रह्मचारी की उपासना का परिचय पाने की अभिलाषा से शौनक ने उन तेजस्वी ब्रह्मचारी को छेड़ा। पाचकों से कहा—"इन ब्रह्मचारी को भिक्षा मत दो।"

ब्रह्मचारी ने कहा—"भोजन का समय है, मैं भोजन का अधिकारी हूँ, यह राजा धार्मिक है, आप वेदज्ञ ऋषि हैं। भोजन काल में आये हुए ब्रह्मचारी को तो भिक्षा देनी ही चाहिये।"

शौनक ने पूछा—"क्यों देनी चाहिये ?"

ब्रह्मचारी ने कहा—"इसलिये देनी चाहिये कि शास्त्र की आज्ञा है।"

शौनक ने पूछा—"क्या तुम शास्त्र का अर्थ जानते हो ?"

ब्रह्मचारी ने कहा—"आचार्य पूज्य श्री गुरुदेव की कृपा से किंचित् जानता हूँ।"

शौनक ने कहा—"यदि जानते हो, तो या तो हमसे कोई प्रश्न पूछो, या हम जो पूछें उसका उत्तर दें।"

ब्रह्मचारी ने कहा—"अच्छा, हम ही आप से एक प्रश्न पूछते हैं।"

शौनक ने कहा—"अच्छा, पूछिये।"

ब्रह्मचारी ने कहा—"इन चतुर्दश भुवनों की प्रजा का पालन करने वाला एक देव है। उसने चार महात्माओं को निगल लिया है। वह एक ही प्रजापति देव इन भुवनों में अनेक रूप से निवास करता है, वह विविध रूप रखकर विचरता है, किन्तु मर्त्यधर्मी मनुष्य उस देव को देखते नहीं। बताइये वह देव कौन-है ? अच्छा, एक बात और बताओ, जिसके लिये अन्न है उसे ही अन्न नहीं दिया गया, यह क्या बात है ? मेरे इन प्रश्नों का आप उत्तर दीजिये। हे कापेय गोत्रीय शौनक ! हे कक्षसेन के पुत्र अभि-प्रतारिन् ! आप दोनों में से जो चाहें उत्तर दें।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! जब ब्रह्मचारी ने दोनों से ये प्रश्न किये, तो क्षत्रिय होने के कारण अभिप्रतारी तो चुप ही रहा। शौनक ऋषि ने ब्रह्मचारी के प्रश्नों पर विचार किया, कुछ

देर तक वे मनन करते रहे। फिर वे बड़े प्रेम से ब्रह्मचारी के समीप में ही चले गये। और हँसते हुए बोले—"ब्रह्मचारिन्! आप जिस एक देव के सम्बन्ध में पूछ रहे हैं। वह देव समस्त देवताओं की आत्मा है, समस्त प्रजाओं की उत्पत्ति का कारण वही है। जिसकी दाढ़े सुवर्ण की हैं। अर्थात् उसके सुन्दर दाँत स्थायी हैं, वे टूटते-फूटते नहीं। चाहे सुवर्ण भी हो उसे भी चबा जाता है। दूसरों को तो वह खा जाता है, किन्तु दूसरे उसे खा नहीं सकते। वास्तव में जो अन्न नहीं है, उसे भी वह भक्षण कर जाता है। हे ब्रह्मचारिन्! हम उसी देव की उपासना करते हैं। उसका नाम संवर्ग है। वह अग्नि, सूर्य, चन्द्र और जल को निगल जाता है और वाणी, नेत्र, श्रोत्र तथा मन आदि इन्द्रियों को भी निगल जाता है। वास्तव में अन्न अग्नि के लिये-अग्नि स्वरूप ब्रह्मचारी के ही निमित्त ही पकाया जाता है। अवश्य आप भिक्षा के अधिकारी हैं।"

सूतजी कह रहे हैं—"सो मुनियो! ब्रह्मचारी के प्रश्नों का उत्तर देकर कापेय शौनकजी ने पाचकों से कहा—"इन ब्रह्मचारी को भाई! शीघ्र ही भिक्षा दो।"

शौनक मुनि की आज्ञा पाकर सेवकों ने तुरन्त ब्रह्मचारी को भिक्षा दे दी। ब्रह्मचारी भिक्षा लेकर चला गया। तब उन दोनों ने प्रसन्नता पूर्वक प्रसाद पाया। इस प्रकार यह दश संख्यक संवर्ग उपासना का महत्त्व बताया।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी इस संवर्ग उपासना को दश संख्यक कैसे कहते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"इसकी व्याख्या भगवती श्रुति स्वयं ही करती है। वायु ही अग्नि, सूर्य चन्द्र और जल को भक्षण करने वाला है। तो अग्नि, सूर्य, चन्द्र तथा जल और पाँचवीं वायु पाँच

तो ये अधिदैवत हुए। इनसे अन्य वाक्, नेत्र, श्रोत्र, मन और पाँचवें प्राण ये पाँच अध्यात्म हुए। इस प्रकार ये दोनों मिलाकर दश संख्या वाले दशकृत के समान हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"दशकृत क्या ?"

सूतजी ने कहा—"महाराज ! आपने तो कभी द्यूत क्रीड़ा क्यों खेली होगी ? गृहस्थियों का द्यूत एक व्यसन है। हमारे भोले बाबा शंकरजी भगवती पार्वतीजी के साथ द्यूत क्रीड़ा करते हैं। श्यामसुन्दर भी श्रीमती किशोरीजी के साथ क्रीड़ा करते हैं। द्यूत खेलने के चार पासे होते हैं। एक पासे पर तो चार गोल चिह्न अंकित रहते हैं। दूसरे पासे पर तीन गोल चिह्न तीसरे पासे पर दो तथा, चौथे पासे पर एक गोल चिह्न अंकित रहता है। जिस पर चार चिह्न अंकित रहते हैं उसे तो कृत पासा कहते हैं। तीन वाला त्रेता, दो वाला द्वापर और एक वाला कलि कहलाता है। जिसके चारों चिह्न वाला पासा पड़ गया तो त्रेता द्वापर, कलि सबके सब पराजित माने जाते हैं। वह कृत वाला पासा सबके फलों को ग्रहण कर लेता है। इसी का नाम दशकृत है। चार, तीन, दो और एक मिलकर दश होते हैं यह संवर्ग विद्या भी दशकृत है। दिशायें भी दश ही होती हैं। इन दशों दिशाओं में अन्न ही होता है। विराट् नामक जो वैदिक छन्द है वह भी दश मात्रा वाली ही होती है। अतः वास्तव में जो विराट् है वही अन्न को खाने वाला है। अतः वायु में विराट् की भावना करके उपासना करनी चाहिये। क्योंकि यह परब्रह्म परमात्मा ही विराट् है और वह अन्न स्वरूप कहलाता है। अतः आध्यात्म और आधिदैविक जो ५-५ बताये ये भी विराट् स्वरूप होने से अन्न ही हैं। दश और अन्नादी दोनों ही विराट् स्वरूप हैं।"

इस प्रकार भली भाँति जानकर ऐसा निश्चय करके जो-

जो दशकृत संवर्गोपासना की विराट्रूप से उपासना करता है, उसे दशों दिशाओं में कोई भी वस्तु अज्ञात नहीं रहती। उसे ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यन्त भोक्तृ भोग्य रूप में सभी का ज्ञान हो जाता है, वह विराट्रूप से अन्न रूप और कृतरूप से अन्नादी हो जाता है। वह जो खाता है वही पच जाता है। उसकी अग्नि प्रदीप्त हो जाती है। यही दशकृत संवर्ग उपासना का फल है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यह दशकृत संवर्ग उपासना कही गयी। अब आगे जैसे षोडश कला वाली ब्रह्मविद्या सत्यकाम जाबाली की कथा द्वारा बतायी जायगी उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

शौनक सोच्यो, कही–आतमा सुरनि कहावै।
प्रजाजनक मेधावि सुभक्षण शील लखावै॥
सबकूँ भक्षण करै जाइ दूसर नहिँ खावैं।
तिहि उपासना करैं योग्य बटु भिक्षा पावैं॥
पंच पंच दश अन्य हैं, दशकृत अन्न दिशानि जो।
अन्नादी वीराट यह, सब जाने अन्नाद सो॥

इति छान्दोग्य उपनिषद् के चतुर्थ अध्याय में प्रथम,
द्वितीय तथा तृतीय खण्ड समाप्त

छप्पय शतकत्रय

(श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)

(राजर्षि भर्तृहरिजी के तीनों शतकों का छप्पय पद्यानुवाद)

संस्कृत भाषा का थोड़ा भी ज्ञान रखने वाला और वैराग्य पथ का शायद ही कोई पथिक होगा जिसने भर्तृहरि शतक का अल्पांश ही सही अध्ययन न किया हो। इन श्लोकों में महाराज भर्तृहरि का सम्पूर्ण ज्ञान वैराग्य मूर्तिमान हो उठा है। संस्कृत भाषा के अध्ययन के अभाव में यह ग्रन्थरत्न आज धीरे-धीरे नवीन पीढ़ी के लोगों के लिये अपरिचित-सा होता जा रहा है। श्री ब्रह्मचारी जी महाराज जैसे समर्थ एवं वैराग्य धन के धनी महापुरुष ही इसके अनुवाद जैसे दुष्कर कार्य को कर सकते थे। बड़ी प्रसन्नता की बात है कि महाराज जी ने कई वर्षों से होने वाले जिज्ञासु एवं भक्तों के आग्रह को इसके अनुवाद द्वारा पूर्ण किया।

आशा है वैराग्य पथ के पथिक सब प्रकार के जिज्ञासु विद्वान एवं साधारण जन इससे लाभ उठावेंगे। ३०० से अधिक छप्पय की इस पुस्तक का मूल्य लागत मात्र। सटीक भागवत चरित छप रहा था इस कारण यह पुस्तक बीच में रुक गयी अब शीघ्र ही छप रही है।

॥ श्रीहरिः ॥

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी द्वारा लिखित अन्य पुस्तकें